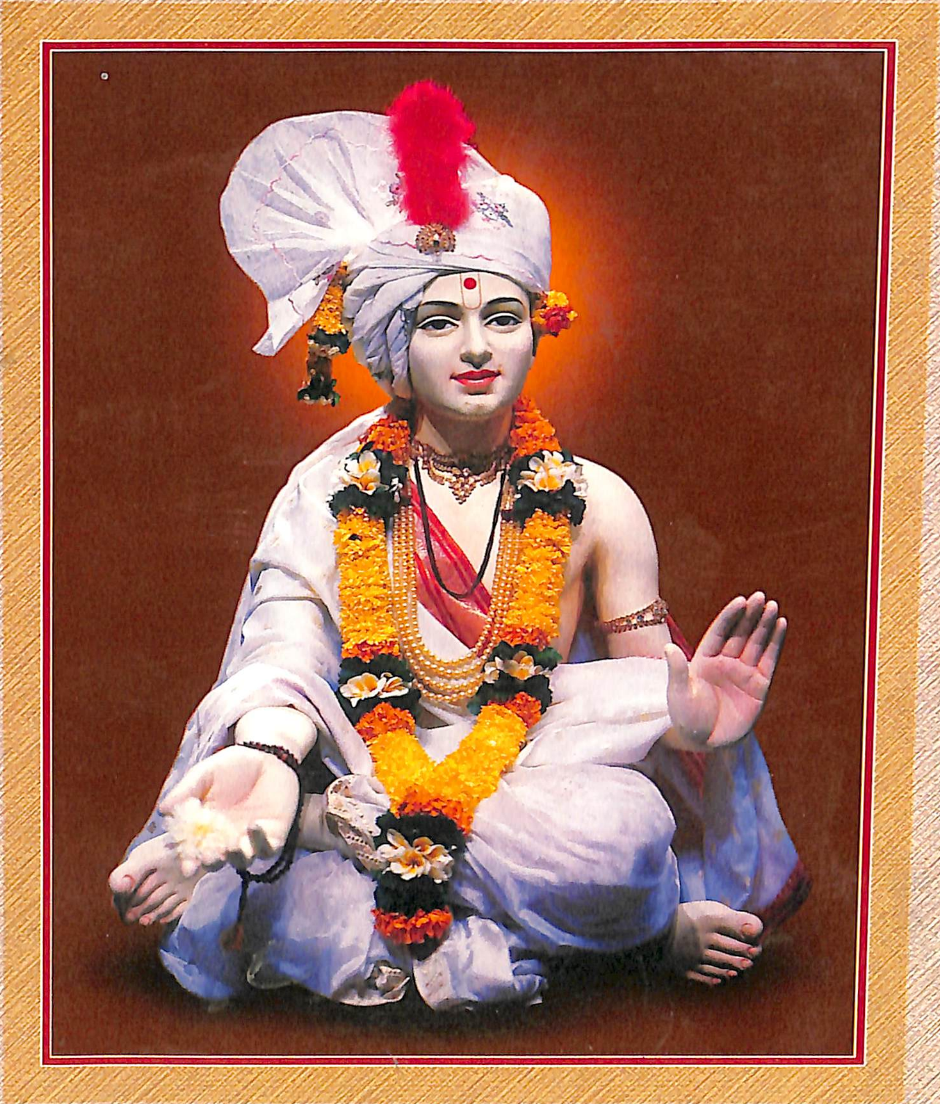
भगवान श्री स्वामिनारायण



जीवन और कार्य



स्वामिनारायण अक्षरधाम : नई दिल्ली

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनाराण संस्था (बी.ए.पी.एस.)

पवित्र और नैतिक जीवन के लिए कटिबद्ध यह संस्था एक विश्वव्यापी आध्यात्मिक एवं शान्तिचाहक समाज है। जीवन के सच्चे मर्म को उजागर करनेवाली, शाश्वत शान्ति की ओर समाज को अग्रसर करती इस धर्मसंस्था का लक्ष्य है : समूची मानवजाति का उत्कर्ष। भगवान स्वामिनारायण (ई. स. 1781-1830) प्रबोधित वैदिक आदर्शों को केन्द्र में रखते हुए ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज ने ई.स. 1907 में इस संस्था की स्थापना की थी।

संस्था के 9,090 सत्संग केन्द्रों (संस्कारधामों, मन्दिरों, बालसंस्कार केन्द्रों, युवासंस्कार केन्द्रों, महिला केन्द्रों, सत्संग केन्द्रों) का विराट विश्वव्यापी आध्यात्मिक परिवार मानव उत्कर्ष की अविरत गंगा बहाता है। संस्था के सैकडों संतों तथा 55 हज़ार युवकों का विराट स्वयंसेवक दल आध्यात्मिक अभियान के उपरांत विविध रचनात्मक प्रवृत्तियों का भी वहन करता है, चाहे वह भूकंपग्रस्त गाँवों का पुनर्निर्माण हो या अकालपीड़ित गाँवों में जलसंचय अभियान, छोटे छोटे गाँवों में प्राथमिक शालाओं का निर्माण हो या अद्यतन भव्य छात्रावास परिसरों का संचालन, साक्षरता अभियान जैसी अनेकविध शैक्षणिक सेवाएँ, अद्यतन सुविधासज्ज अस्पतालें, रोगनिदान यज्ञ या विक्रमसर्जक रक्तदानयज्ञ जैसी सुविधाओं तथा तबीबी सेवाओं में भी यह संस्था, सर्वदा अग्रसर रही है। व्यसनमुक्ति, एड्स जागृति, पर्यावरण समस्याओं का हल आदि के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जागृति का शंखनाद करनेवाली यह संस्था यू.एन.ओ. (UNO) द्वारा मान्य समाज सेवी संस्था है। लंदन, (यू.के.) ह्युस्टन, शिकागो (यू.एस.), नैरोबी (पूर्व अफ्रीका), ओकलेण्ड (न्यूजीलेन्ड) सिडनी (ऑस्ट्रेलिया) गांधीनगर (गुजरात) और दिल्ली में अभूतपूर्व अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक परिसरों का निर्माण संस्था की युगसिद्धि के सीमाचिह्न हैं। हमारी सनातन संस्कृति की बुनियाद को जनहृदय में प्रस्थापित करती इस संस्था ने विश्ववंदनीय प्रमुखस्वामी महाराज की पावन निश्रा में विश्वव्यापी स्तर पर लोकहृदय में अनन्य स्थान प्राप्त किया है।

॥ श्री स्वामिनारायणो विजयते ॥

श्री लक्ष्मी नारायण
स्वामी जी

भगवान श्री स्वामिनारायण
जीवन और कार्य

साधु विवेकप्रियदास

प्रकाशक
स्वामिनारायण अक्षरपीठ
शाहीबाग, अहमदाबाद - 380 004

BHAGWAN SHREE SWAMINARAYAN: JIVAN AUR KARYA (Hindi Edition)
(Life & work of Bhagwan Shree Swaminarayan)

By Sadhu Vivekpriyadas

Inspirer: HDH Pramukh Swami Maharaj

Presented by:

Bochasanwasi Shri Akshar Purushottam Swaminarayan Sanstha
'Swaminarayan Akshardham', N.H. 24, Akshardham Setu,
Yamuna Kinara, New Delhi - 110 092. India.

Publishers:

SWAMINARAYAN AKSHARPITH
Shahibaug, Amdavad - 380 004. India.

2nd Edition:

March 2006, Copies: 5,000 (Total copies : 8,000)

IBSN: 81-7526-255-9

रजूकर्ता : बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था (बी.ए.पी.एस.)
'स्वामिनारायण अक्षरधाम', नेशनल हाईवे 24, अक्षरधाम सेतु,
यमुना किनारा, नई दिल्ली - 110 092.

प्रेरणामूर्ति : प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज

द्वितीय संस्करण : मार्च 2006 विक्रमाब्द 2062

प्रति : 5,000 (कुल प्रति : 8,000)

मूल्य : रु. 35-00

मुद्रक एवं प्रकाशक :
स्वामिनारायण अक्षरपीठ
शाहीबाग रोड, अहमदाबाद- 380 004.

प्राक्कथन

'भगवान स्वामिनारायण!'

लोगों के हृदय को भावपूर्ण स्थिति तक पहुँचानेवाला यह कितना प्यारा सा नाम है!

गांधीनगर (गुजरात) एवं दिल्ली स्थित भारतीय सांस्कृतिक संकुल 'स्वामिनारायण अक्षरधाम' द्वारा पूरे भारतवर्ष के शहरों और कस्बों से लेकर देहातों की गलियों तक इस नाम का गुंजन होता रहा है। बीते दो दशकों से गुजरात के बाहर धीरे-धीरे फैलनेवाली भगवान स्वामिनारायण की महिमा से हर कोई व्यक्ति थोड़ा-बहुत तो परिचित है ही, परन्तु बहुत कम लोगों को यह जानकारी है, कि गुजरात को अपनी कर्मभूमि बनाकर लोकहृदय में परमात्मा का स्थान पानेवाले भगवान स्वामिनारायण अर्थात् स्वामी सहजानन्दजी मूलतः उत्तरप्रदेश के थे!

हिन्दी भाषी प्रान्त उत्तरप्रदेश से गुजरात पधारे हुए सर्वावतारी भगवान स्वामिनारायण की पहचान गुजरात के बाहर इतनी नहीं बन पाई, इसके कई कारण हो सकते हैं परन्तु अब तो राजस्थान, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल तक संस्था के सन्तों का विचरण होने लगा है। अतः उनके विषय में अधिक से अधिक जानने की जिज्ञासा सत्संग के सम्पर्क में आनेवाले असंख्य मुमुक्षुओं के हृदय में जाग उठी है। इसी जिज्ञासा को सन्तुष्टि प्रदान करने के लिए इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया है।

आज तो भगवान स्वामिनारायण के सन्देश की गूँज सम्पूर्ण भारतवर्ष के मुमुक्षुओं के परिवारों तक सुनाई दे रही है। स्वयं श्रीहरि द्वारा आज से दो शताब्दी पूर्व दिए गए शान्ति के सन्देश को आज गुजरात के बाहर भी लोगों ने उन्मुक्त हृदय से स्वीकार किया है। वे उनकी छोटी-छोटी परिचयात्मक जीवनी से सन्तुष्ट न होकर विस्तृत जीवन-गाथा के प्रकाशन की माँग कर रहे हैं।

इसीलिए आज सर्वावतारी भगवान स्वामिनारायण के दिव्य एवं कल्याणकारी जीवन का यह विस्तृत संस्करण आपके हाथों में रखते हुए हम अत्यंत हर्षित हैं।

अपने जीवनकाल में ही गुजरात के केवल तीस साल के निवास के दौरान भगवान स्वामिनारायण के अपने दीक्षित त्यागी समुदाय की ढाई हज़ार से अधिक

संख्या थी ! इन सन्तों में राष्ट्रीय स्तर के सन्तकवि, पंडित, विद्वान्, वक्ता एवं साधुगुण सम्पन्न, ब्रह्मचर्य की परम्परा को निभानेवाले समर्पित लोकसेवक भी थे।

भगवान स्वामिनारायण का अपने समय में एक ऐसा विशाल अनुयायी वर्ग था कि तत्कालीन अंग्रेज अधिकारियों ने भी बड़े आदर के साथ उनके अनुयायियों के सद्वर्तन की, सदाचार और उन्नत विचारों की अपने इतिहास ग्रन्थों में भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इन सहस्त्रों भक्तों एवं सन्तों के हृदय में भगवान स्वामिनारायण के साथ एक अद्भुत प्रतीति का अनुबन्ध था कि सभी उनको उनकी उपस्थिति में ही साक्षात् परमात्मा समझते थे! उनकी आरती उन्हीं के जीवन-काल में रची गई। सहस्त्रों लोगों ने उनकी मूर्तियों का स्थापन अपने अन्तःकरण से उभरते भक्तिभाव के साथ किया था। नगर-नगर और गाँव-गाँव के हज़ारों घरों में प्रातःकाल हरिभक्त यही मन्त्र रटा करते थे : स्वामिनारायण स्वामिनारायण!

जाको ध्यान धरत ब्रह्म अक्षर, महापुरुष, महामुक्त, मुनीश्वर,
विश्वाधार विश्व के कारण, ईश्वर अन्तर्यामी,
भज मन सहजानन्द स्वामी! समरथ, सुखदायक हरि बहुनामी।

स्वामिनारायणीय सन्तकवि प्रेमानन्द स्वामी की ऐसी प्रतीति की प्रतिच्छाया हमें कविवर सुखानन्द स्वामी के कथन में भी दिखाई देती है :

परब्रह्म पूरण पुरुषोत्तम, स्वामिनारायण सुमरानी,
सुखानन्द सरने सुख पायो, भजन भरोसा उर आनी,
सहजानन्द के दरसन करके, मगन भए सब गुरुज्ञानी!

'समाज सुधारक' की उनकी छवि अवश्य विराट बना दी गई है, पर वास्तव में वे श्रीकृष्ण भगवान के *'सम्भवामि युगे युगे'* के आशीर्वाद को सार्थक बनाने के लिए अवतीर्ण हुए सर्वावतारी परब्रह्म थे। उन्होंने स्वमुख से कहा था, 'मैं ब्रह्मधाम में पहुँचा, वहाँ देखा, तो मैं ही पुरुषोत्तम हूँ...।' (वच. अहम : 7)

उन्होंने मानवजीवन को न केवल अज्ञानता के अंधकार से ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर उन्मुख किया बल्कि अपने सर्वावतारीपन के ऐश्वर्य से उनके स्वभावों तथा दोषों के उस कवच को भी तोड़ा, जिसने युग-युगान्तरों से जीव को जन्म-मरण के बन्धन में जकड़ रखा था। एकान्तिक धर्म की स्थापना ओर जीवों को अक्षररूप करके पुरुषोत्तम की सेवा के अधिकारी बनाना उनके कल्याणकारी जीवन

का मुख्य उद्देश्य रहा है।

उनकी साधुशीलता और भगवत्ता हमें आज दो सौ वर्ष पश्चात् भी उतनी ही ताज़ा लगती है, जितनी कि उनके अपने समय में थी। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने अमरत्व के संकेत अपने स्वधामगमन के पूर्व ही दे दिए थे। उन्होंने कहा था, 'मेरा निवास हमेशा के लिए मेरे गुणातीत सन्त में होगा।'

गुणातीत सन्त परम्परा में आज भी भगवान स्वामिनारायण, विश्ववंदनीय सन्तविभूति प्रमुखस्वामीजी महाराज के द्वारा अपने पूर्ण ऐश्वर्य, सामर्थ्य और प्रभाव के साथ विद्यमान हैं, ऐसी प्रतीति उनके दर्शन और सत्संग करनेवाले हर किसी के दिल में होती रहती है।

ऐसे सर्वावतारी युगपुरुष के जीवन-चरित्र का लेखन इतना सरल भी तो नहीं हो सकता। अतः उनके जीवन की अनेक दिव्य घटनाओं का विवरण देते समय उपनिषद् का वह मन्त्र सहज ही स्मरण हो आता है, '*यतो वाचो निवर्तन्ते !*' जहाँ वाणी भी हमेशा अपनी मर्यादा को समझती हुई सिमट जाती है, ऐसे श्रीहरि के विस्तृत जीवन से यहाँ तो केवल आचमन देने का प्रयास ही किया गया है।

इस ग्रन्थ में पूज्य ईश्वरचरण स्वामीजी तथा पूज्य विवेकसागर स्वामीजी का अनन्य मार्गदर्शन तो आशीर्वाद के रूप में रहा ही है, विद्वान लेखक एवं पत्रकार श्री योगेन्द्र प्रकाशजी के सुझावों ने भी इस ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है। पूज्य आदर्शजीवन स्वामीजी के गुजराती ग्रन्थ से तत्त्वज्ञान सम्बंधी प्रकरण को अनुवाद के रूप में यथावत् लिया गया है।

चारों विद्वानों के ऋण स्वीकार करते हुए जिनकी प्रेरणा से यह प्रकाशन सम्भव हुआ है, ऐसे विश्ववंदनीय गुरुहरि प्रमुखस्वामीजी महाराज के चरण-कमलों में मैं सदा नतमस्तक हूँ, जिन्होंने यह सेवा देकर मुझे कृतार्थ किया है।

इस ग्रन्थ से उभरती भगवान स्वामिनारायण की पारलौकिक प्रतिभा से हिन्दीभाषी प्रदेशों में उनकी वास्तविक महिमा का प्रवर्तन हो तथा पाठकों के हृदय में उनके प्रति भक्ति की धारा प्रवाहित हो, यही उनके पावन चरणों में प्रार्थना है।

दिनांक : 30-3-2004 जय स्वामिनारायण,

चैत्र शुक्ला नवमी, श्रीहरिजयंती पर्व **- साधु विवेकप्रियदास।**

अनुक्रमणिका



पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्री स्वामिनारायण

9

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मन्दिर के एक सभा-कक्ष में कुछ सन्त एवं हरिभक्त किसी गम्भीर चर्चा में व्यस्त थे। उनके मध्य एक तिपाई पर एक काँच का गिलास रखा था, जिसमें पानी था।

अचानक एक हरिभक्त ने कहा कि यह गिलास आधा खाली है। तुरन्त ही एक सन्त ने कहा कि गिलास आधा भरा है। तभी एक तीसरे सन्त ने भारत के विगत सहस्त्र वर्षों के इतिहास को इसी सन्दर्भ में स्मरण दिलाना प्रारम्भ किया, 'कुछ लोग कहते हैं कि भारत सहस्त्र वर्षों तक पराधीन रहा, तो कुछ का कहना है कि भारत उतने ही वर्षों से संघर्षरत है।

तभी एक अन्य सन्त ने चर्चा का सूत्र पकड़ते हुए कहा कि विश्व में अनेक संस्कृतियाँ फूली-फलीं थीं, पर आज वे केवल इतिहास के पृष्ठों में सिमटकर रह गईं हैं। ग्रीक, मिश्र, रोमन, बेबीलोन आदि की प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यताएँ बर्बर आक्रमण के कारण नष्ट हो गईं, पर भारत की संस्कृति असुरों के आघात को सैकड़ों वर्षों से सहती हुई भी नष्ट नहीं हुई है। क्या कारण है इसका? भारत में इस 'संस्कृति' शब्द से पूर्व एक

विशेषण जुड़ा हुआ है, 'सनातन'! जो अजर है, अमर है, अध्यात्म से सराबोर है, विपरीत देशकाल में भी कभी नष्ट नहीं होता, ऐसे परम तत्त्व की बुनियाद पर आधारित यह संस्कृति वास्तव में सनातन संस्कृति है।

जिस प्रकार अंग के कट जाने पर मनुष्य मरता नहीं, उसी प्रकार विभिन्न आसुरी वृत्तियों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति के शरीर पर घाव तो अवश्य हुए, पर उसका अर्थ यह नहीं कि हमारी संस्कृति की आत्मा नष्ट हो गई थी। घने बादल छा जाने पर सूर्य छिप जाता है, तो उसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य नष्ट हो गया! इसी प्रकार आसुरी वृत्तियों का आक्रमण भले ही हमारी सांस्कृतिक आत्मा को ढक ले, परन्तु वे उसे नष्ट नहीं कर सकतीं।

किसी भी संस्कृति की अभिव्यक्ति मनुष्य देह द्वारा ही सम्भव है। भारतीय संस्कृति की आत्मा है धर्म तथा धर्म के संस्थापक हैं स्वयं परमात्मा। क्या आत्मा या परमात्मा नष्ट हो सकते हैं? नहीं! अर्थात् उनके रहते हमारी संस्कृति भी मिट नहीं सकती। विश्व की अन्य संस्कृतियाँ बुद्धिप्रधान, देहप्रधान अथवा भोगप्रधान थीं, चूंकि वे किसी सनातन तत्त्व से नहीं जुड़ी थीं, इसलिए उन्हें मिटना पड़ा।

भारतीय संस्कृति के संरक्षक तथा परिपोषक स्वयं भगवान रहे हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने परमात्मा को शाश्वत धर्मगोप्ता कहा है। भारत भगवान की प्रिय भूमि है। वे यहाँ पूर्ण-अवतार या अंश-अवतार के रूप में पधार कर धर्म तथा संस्कृति पर आच्छादित धूल को उड़ा देते हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि हमारा जन्म भगवान की इस प्रिय भूमि पर हुआ है।

गीता के माध्यम से हमें एक स्पष्ट संकेत मिलता है कि जब-जब धरा पर धर्म का प्रभाव कम हो जाता है, अधर्म का प्राबल्य हो जाता है तब असुरों, अधर्मियों और अभिमानियों का प्रभाव भी बढ़ जाता है। ऐसे समय में भगवान धर्म की पुनःस्थापना तथा दुष्टों का संहार करने के लिए इस धरातल पर विविध शरीर धारण करके अवतरित होते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता : 4/3-4)

यही सिद्धान्त गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में इन शब्दों में कहा है :

जब जब होई धरम की हानी, बाढ़ हि असुर, अधम, अभिमानी ।
करहिं अनीति जाइ नहीं बरनी, सीदहिं विप्र, धेनु, सुर, धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है : विदेशियों के आक्रमण से हिन्दू प्रजा को जब पीछे हटना पड़ रहा था, वह क्या वास्तव में हृदय को निराश करनेवाली घटनाएँ नहीं थी? इसका उत्तर यही होना चाहिए कि उन दिनों हमारी प्रजा संघर्षरत थी, न कि निराश। भीषण परिस्थिति से गुजरती और आधार के लिए छटपटाती हिन्दू प्रजा का उस संघर्षपूर्ण वातावरण को समझने का प्रयास ही हमें वास्तविक परिस्थिति की जानकारी दे सकता है।

11 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से महमूद गज़नबी के आक्रमण और इस्लाम की विजय का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। सन् 1137 (संवत् 1193) में गोरी के विजय के पश्चात् मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा भारत और भी अधिक रौंदा गया था।

सन् 1295 (संवत् 1351) से अलाउद्दीन खिलज़ी का समय प्रारम्भ हुआ। खिलज़ी इलाहाबाद के पास बांरा का सूबेदार था। वह बिना दिल्ली के हुक्म के अपनी सेना लेकर मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग से होता हुआ देवगिरि पहुँचा था। यहाँ उसकी कुटिल बुद्धि ने भाँप लिया कि यादव राज्य की सेना किसी और अभियान पर गई है। उसने किले में प्रवेश की अनुमति पाकर विश्वासघात किया और बहुत बड़ा खज़ाना लूटकर बांरा लौट गया। कुछ ही समय में उसने दिल्ली के तख़्त पर आसन जमाया तथा राजस्थान, गुजरात (सोमनाथ) (सन् 1297) और दक्षिण भारत पर आक्रमणों का सफल सिलसिला प्रारम्भ कर दिया।

इस अवधि में उन मुस्लिम आक्रान्ताओं ने भारत के सारे विद्या-केन्द्र नष्ट अथवा तोड़कर भूमिसात् कर दिए थे, जिसका विवरण इस्लामी इतिहासकारों के उल्लेख से प्राप्त होता है।

'कन्हडदेव प्रबन्ध' में सोमनाथ से दिल्ली लौटती सेना का विवरण इस प्रकार दिया गया है कि एक लाख पुरुष तथा महिलाओं को बन्दी

बनाकर मुस्लिम सेना दिल्ली लौट रही थी। जैसलमेर की तत्कालीन सेना ने उन्हें बुरी तरह पराजित किया और एक लाख हिन्दुओं को छुड़ाकर बहुत बड़ी सिद्धि हासिल की। खिलज़ी सन् 1310 से 15 तक युद्ध करके हिन्दू प्रजा को बुरी तरह सताता रहा।

इराक, ईरान, मिश्र, तुर्कस्तान तथा भूमध्य सागर के दक्षिण के सभी राज्यों को इस्लामी सेना ने पैगम्बर की मृत्यु के पश्चात् 80 वर्ष के भीतर ही भीतर जीत लिए और सारी जनसंख्या को इस्लाम स्वीकार करने को विवश कर दिया।

सारे शिक्षा-केन्द्र ही गिरा दिए गए थे, तो इतने आघातों के बावजूद भी हिन्दू प्रजा ने अपनी संस्कृति की रक्षा कैसे की? हिन्दू विद्वानों ने घर-घर पाठशालाएँ प्रारम्भ करने का कदम उठाया।[1]

महिलाओं के शील की रक्षा के लिए समाज ने बालविवाह की रीति अपनाई थी, तो संघर्षरत समाज को आर्थिक कठिनाईयों के कारण बेटी के ब्याह में जो धन दहेज के रूप में देना पड़ता था, उससे बचने के लिए वे ताज़ा जन्मी बच्ची को दूधपीती करने के अलावा कुछ सोच भी नहीं सकते थे। विशेषत: गुजरात में यह केवल दरबार-गरासिए में अधिक हुआ करता था।

ऐसी विषमताओं में वे टूटे हुए मन्दिरों की मरम्मत भी क्या करवा सकते, जब कि अपने घर या खेत भी लूटे-लूटाए जाने के भय से लोग काँपते रहते थे। औरंगज़ेब ने तो राज्याज्ञा ही निकाली थी कि मन्दिरों को ध्वस्त करते चलो। इतना ही नहीं, वह स्वयं भी राजस्थान के मन्दिरों को तोड़ने के लिए पहुँच गया था। इस भीषण परिस्थिति में भी हिन्दू समाज संघर्ष करता रहा और पूरा देश ऐसी मिट्टी में अपने मूल्यों की धरोहर को बोता चला, कि वह कभी पूरी तरह इस्लाम के साये में नहीं आया। हाँ, जो समाज अपने तथा अपने धर्म के अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा हो, वहाँ अनेक दुर्बलताओं के रहने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

---

1. भगवान स्वामिनारायण के अष्टांग योगी सन्त गोपालानन्द स्वामीजी पूर्वाश्रम में खुशाल भट्ट के रूप में ऐसी ही पाठशाला में पढ़े थे और स्वयं भी ऐसी ही पाठशाला चलाते थे। ब्रह्मानन्द स्वामी की शिक्षा भी इसी प्रकार से हुई थी।

यदि मराठा शक्ति ने इस्लाम की शक्तियों के साथ साहस से टकराव न लिया होता तो परिस्थिति इतनी विपरीत हो सकती थी कि मुगल सल्तनत के पतन के बाद हम इस धरती पर मन्दिर कभी नहीं बना पाते। मराठा शक्ति के साथ-साथ जाट, राजपूत, सिख आदि भी इस्लाम को अपनी-अपनी भूमि पर परास्त कर रहे थे। इन पाँच-छः सौ वर्षों के भारी संघर्षों के बाद हिन्दू प्रजा अभी सम्भल भी नहीं पाई थी कि अंग्रेजों से युद्ध छिड़ गया और सत्ता की बागडोर 'कम्पनी सरकार' के नाम पर अंग्रेजों ने हथिया ली।

उन दिनों ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मात्र व्यापार के उद्देश्यों को ही नहीं, राजनीतिक उद्देश्यों को भी हासिल करने की गतिविधियाँ प्रारम्भ कर दी थीं, क्योंकि वे समझ चुके थे कि भारत की समृद्धि के खज़ाने को खींचने के लिए सत्ता की डोर से अधिक कोई उचित माध्यम नहीं होगा। कोलकाता (कलकत्ता) तथा दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों की सत्ता की बागडोर हथियाने के बाद पूरे भारत के राजनीति-तन्त्र को भी हथिया लेने के कुटिल इरादे कम्पनी के अधिकारियों के मन में कब के पनप चुके थे, परंतु उन अधिकारियों को राज्य 'बढ़ाने की वृत्ति' से परहेज रखने की सूचना इंग्लैण्ड के शासन से लगातार मिल रही थी। फिर भी भारत की समृद्धि के कारण व्यापार करने के लिए आए अंग्रेज व्यापारियों की कुदृष्टि इस देश की धन-समृद्धि पर गड़ चुकी थी। वे आए थे तो व्यापार करने, लेकिन कब राजनीतिक गतिविधियों में डूब गये, इसका खयाल भी नहीं रहा। प्रशासनिक अव्यवस्था के अन्धकार का लाभ लेने से कंपनी के अधिकारी कभी नहीं चूके थे।[2]

एक-केन्द्रीय शक्तिशाली सत्ता के अभाव में विविध प्रान्तों के मुगल या पेशवाई सूबेदारों के द्वारा सम्पूर्ण सत्ता हथिया लेने से, तथा छोटे-छोटे ज़मींदार अपनी-अपनी शक्ति में वृद्धि करके 'राजा' बन बैठने की कोशिश में लगे रहते थे।

मराठाशक्ति ने गुजरात को इस्लामी प्रभाव से मुक्त तो करा लिया

---

2. उन्नीसवीं शताब्दी में गुजरात में स्वामिनारायण सम्प्रदाय का योगदान (गुजराती) डॉ. रश्मि व्यास : पृ. ७. तथा 'भगवान स्वामिनारायणनुं समकालीन लोकजीवन' - (गुजराती) लेखक : बी. जी. वाघेला।

था, पर प्रशासन केवल साठ साल तक ही सम्भाल पाए। अन्ततः गायकवाड़ तथा पेशवाई सूबेदारों ने गुजरात तथा सौराष्ट्र प्रान्त की कर-वसूली के अधिकार हथिया लिए।[3]

हमें इस परिप्रेक्ष्य में गुजरात की स्थिति का अवलोकन करना चाहिए। क्योंकि यही प्रदेश था जहाँ भगवान स्वामिनारायण ने अपने कल्याणकारी कार्यों की नींव रखी थी।

इस्लामी इतिहासकारों की अपेक्षा अंग्रेज इतिहासकारों का कथन उनके पूर्वाग्रहयुक्त रवैये को व्यक्त करता रहता है। उन्होंने इतिहास में भारत की जमकर बुराई की, इसका कारण यही हो सकता है कि भारतीयों के मन में हमेशा के लिए अपने देश तथा अपनी परम्पराओं के विषय में हीन भावना आ जाए। अतः उन्होंने तरह-तरह के भ्रम फैलाए। जैसे कि हिन्दू राज्य करना नहीं जानते थे, हिन्दुओं के जीवन की कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है, यहाँ के सन्त, साधु, वैरागी, मुफ़्तखोर और निकम्मों की जमात हैं इत्यादि। यहाँ के लोग अंग्रेजों के आने के बाद ही बर्बरता छोड़कर सभ्यतापूर्वक जीवन जीना सीखे थे...। ऐसे कई भ्रमों का उन्होंने इतिहास के ग्रन्थों द्वारा प्रचार किया तथा इस कार्य में विद्या-केन्द्रों के पाठ्यपुस्तकों का भी उन्होंने सहारा लिया।

दुःख की बात तो यह है कि आज हमारे विद्वान भी उन्हीं इतिहासकारों द्वारा दिए गए हीनभावना के 'वरदान' को अपने मस्तक पर थोपकर तत्कालीन भारत को अध्यात्महीन तथा संस्कृतिहीन बताने का दुष्प्रयास करते चले आ रहे हैं।

भगवान स्वामिनारायण ने इस स्मृतिभ्रंश से ऊपर उठाने के लिए लोकसमूह को अध्यात्म के मार्ग पर प्रशस्त किया, जो कि श्रेय के साथ-साथ प्रेय का मार्ग भी सिद्ध कर देता है। श्रीहरि ने नकारात्मक शब्दावलियों को छोड़कर ऐसे सकारात्मक शब्द चुने जिससे कि अध्यात्म की धारणा को एक नई गति मिली। गुजरात की संघर्षरत प्रजा में उस समय भले ही कितनी बुराइयाँ फैली थीं, परन्तु न केवल उन्होंने समाज-सुधार को वरीयता प्रदान की, बल्कि अज्ञान को मिटाकर सभी के लिए भागवत धर्म

---

3. रश्मि व्यास : पृ. ७।

का मार्ग सदैव के लिए खोल दिया।

तत्कालीन धार्मिक-सामाजिक परिवेश

गुजरात में धार्मिक गतिविधियों के नाम पर कूडापंथ, कौलपंथ, शाक्तपंथ तथा वाममार्गियों के साथ शुष्क वेदान्तियों द्वारा व्यभिचार, हिंसा, वहम, अत्याचार एवं अज्ञान को ही प्रश्रय मिल रहा था। शैव एवं वैष्णवों का विग्रह चरमसीमा पर था। गुजरात के शक्तिपंथी मराठा सूबेदारों की 'रहमनज़र' के नीचे दुराचरण एवं पशु-हिंसा का ज्वर पूरी तरह से मुखर हो चुका था। महेमदाबाद (जिला : खेड़ा) में एक ब्राह्मण के घर से प्रीतिभोज के लिए लाया गया 60 मन मांस देखकर अंग्रेज अधिकारी भी चकरा गए थे![4]

धार्मिकता के नाम पर भाँति-भाँति के आडम्बर चल रहे थे। धर्म-भ्रष्ट वैरागियों की फौज गाँव-गाँव कहर ढा रही थी। वे बड़े-बड़े समूहों में घूमते हुए गाँव या शहर पर मानो टूट पड़ते थे।

वे बच्चों का अपहरण करते, अस्त्र-शस्त्र का व्यापार और व्यसन-विषय में स्वयं को डुबोकर समाज के भद्र वर्ग को भी डुबोते रहते थे। यही इन 'साधुओं' का मानो 'नित्यकर्म' था!

सामाजिक व्यवहार का रूप इतना घिनौना हो चुका था कि कहीं-कहीं 'कुल की परम्परा' के नाम पर बच्चियों को जन्मते ही दूध में डुबोकर मार डालना आदि अनिष्टकारी प्रथाएँ सामाजिक जीवन-व्यवहार का अंग बन चुकी थीं!

देश को हड़पने की अंग्रेजों की कुटिल चाल, ज़मींदारों एवं उनके ठेकेदारों के जुल्म, अकाल, समाज के विकृत रीति-रिवाज, अन्धश्रद्धा, संस्थाओं में जात-पात के भेदभाव तथा भूत-प्रेतादि के अज्ञानजन्य वहम, यही सब गाँवों-शहरों की प्रजा का परिवेश था। यहाँ राजा भी लुटेरा बना हुआ था।[5]

---

4. स्वामिनारायण सम्प्रदाय की ऐतिहासिक समालोचना (गुजराती) – ले. त्रि. गौ. व्यास. गुजराती साहित्य संमेलन १३ वा अधिवेशन : पृ. ३६।
5. यशवंत शुक्ल : स्वामिनारायण सन्त साहित्य (गुजराती) पृ. १२४।

स्वयं भगवान स्वामिनारायण के ही समर्थ सन्तकवि स्वामी निष्कुलानन्दजी की आँखों से हमें तत्कालीन गतिविधियों को समझने का प्रयास करना चाहिए।

स्वामी निष्कुलानन्दजी लिखते हैं, 'जो धर्म के रक्षक थे, वही भक्षक बनकर हज़ारों लोगों को वहम, विषय और व्यसन के दलदल तक खींचे चले जाते थे। धार्मिक परम्पराओं के नाम पर मद्य-मांस का भक्षण और परस्त्री के साथ व्यभिचार प्रत्येक अधर्मी का लक्ष्य था, जिज्ञासुओं के तो उन अधर्मी उपदेष्टाओं ने प्राण ही निकालने बाक़ी रखे थे, भोली प्रजा का धन हरने के सिवा उनकी कोई प्रवृत्ति शेष नहीं रही थी, धार्मिक परम्पराओं के नाम पर 'यज्ञविधि' कलंक रूप बन चुकी थी। हर यज्ञ में ढेर सारे पशुओं की निर्मम हत्या की जाती थी। वेदादि शास्त्रों के कथनों को विपरीत और विकृत अर्थ देकर अनेक बाबा-वैरागी मात्र उदर-पोषण और विषय-भोग की प्रवृत्ति में ही 'अध्यात्म' की 'इति' समझते थे।'

'राजा' न तो रक्षक रहे थे, न पालक। बिना किसी अपराध के प्रजा को इतनी बेरहम पीड़ा देते थे कि वे राजा न रहकर क्रूर हत्यारे बन गये थे।'[6]

ज़मींदारों के अत्याचार ने गरीब वर्ग को कर के बोझ से पूरी तरह कंगाल एवं भिखारी बना रखा था! राजा, ज़मींदार और लुटेरों के साथ ठगों का आतंक भी कहीं-कहीं इतना फैला था कि वे जो चाहे, जब चाहे सरलता से छीन लिया करते थे! 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' यह कहावत उन्हीं बुरे दिनों की निशानी है।

ऐसे हालात में प्रजा को सुख और चैन कहाँ से मिलता?

इस पुण्य भूमि पर जब सात्त्विक शक्तियों का ह्रास होता है, ऐसे समय में विश्व को बचाने के लिए, उसे शक्तिमान, उन्नतिशील और धर्मनिष्ठ बनाए रखने के लिए सृष्टि के पालनहार की कृपादृष्टि इस पृथ्वी पर अवश्य ही पड़ती है।

सामाजिक एवं राजनीतिक दिशाओं से पराजित, असन्तुष्ट और नए क्रान्ति-सूर्य को देखने के लिए तरसती प्रजा को आज से सवा दो सौ वर्ष

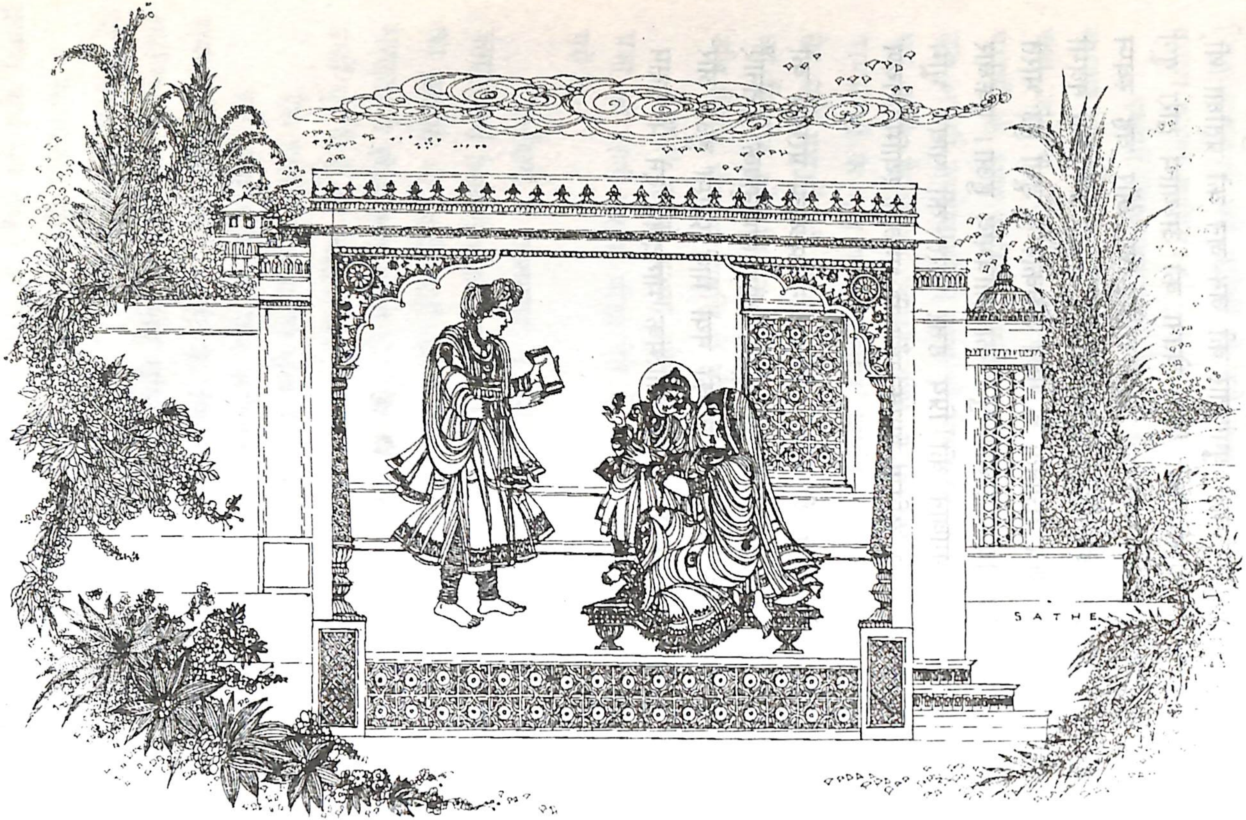
---

6. भक्तचिन्तामणि : प्र. ९, निष्कुलानन्द स्वामी।

पूर्व एक तारणहार की प्रतीक्षा थी...। पूरे समाज को अधर्म से मुक्त करके धर्म-मार्ग पर प्रस्थापित करनेवाले युगावतार की जन-जन को प्रतीक्षा थी, समाज में कभी-कभी झिलमिलाती दिव्य-चेतना को अध्यात्म द्वारा पूर्ण प्रकाशमान करनेवाले क्रांति-सूर्य का उदय चाहिए था और वह स्वप्न साकार हुआ : सन् 1781 की तीसरी अप्रैल को। सं. 1837 की चैत्री नवमी का वह पवित्र दिन था, जब अज्ञानता के गहन अंधकार में डूबी हुई भारत की पावन धरा पर एक दिव्य प्रकाश-पुंज का आविर्भाव हुआ। एकबार पुनः अवतारों के लिए भगवान को प्रिय उत्तर भारत की पावन भूमि अयोध्या से 14 कि.मी. दूर छपिया नामक गाँव में भगवान स्वामिनारायण का प्राकट्य हुआ।

प्रभु के जन्म के साथ ही भारत की प्राचीन अध्यात्म-परम्परा को पुनः गतिशीलता प्राप्त हुई। सदियों से क्रूरता और अमानुषिक यातनाएँ झेलती आ रही भारत की निरीह प्रजा को नया मार्ग प्रशस्त हुआ और इसीके साथ भारत पुनः विश्व को आध्यात्मिक मार्गदर्शन देने में सक्षम हुआ।

❀ ✿ ❀



छपिया गाँव में माता भक्तिदेवी तथा पिता धर्मदेव के साथ घनश्याम बालप्रभु की मनोहर लीला।

२

बालचरित्रों से उभरती पारलौकिक प्रतिभा

समय अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अपना पाँव रख चुका था। उत्तरप्रदेश के विविध प्रान्तों में राजपूतों के साथ ब्राह्मण परिवार भी राजनीति में सक्रिय हो चुके थे। उसमें भी गोरखपुर के गोंडा प्रान्त के ब्राह्मण तो बिसेन वंशीय राजाओं की सेना में अग्रिम पंक्ति का स्थान भोग रहे थे। सरवरिया, कनौजी, साकलदीपी तथा संघ ब्राह्मणों की शाखा वैसे भी अपनी शूरवीरता एवं स्वामिभक्ति के लिए प्रसिद्ध थी। कुछेक ब्राह्मण परिवार शिक्षा के साथ जुड़े थे, तो कुछेक ज़मींदारी के व्यवसाय में भी जुड़े हुए थे।

अयोध्या तहसील के ठाकुरसाहब 'महाराजा' कहलाते थे, जो साकलदीपी ब्राह्मण परिवार से थे और सबसे विशाल जागीर के मालिक थे। इसके साथ ही सबसे बड़े ज़मींदारों में तिवारी और पाण्डेय परिवार का नाम भी पूरे इलाके में प्रसिद्ध था।[7] ऐसे ही पाण्डेय परिवार में भगवान

7. डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर ऑफ यू.पी. – ग्रंथ XLiii : संकलन : एच. आर. नेविच, (फ़ैज़ाबाद) तथा ग्रंथ : XLiv, जिला गोण्डा।

स्वामिनारायण का जन्म हुआ।

उनके परदादा कन्हाईराम पाण्डे, बांसी के राजा शिरनेत्र के प्रिय विद्वान थे और उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर राजा ने अपना इटार गाँव पाण्डे परिवार को जागीर के रूप में भेंट किया था। उसी दिन से यह परिवार 'इटारवाले पाण्डे कुटुम्ब' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, हालाँकि उनका निवास रैहटक में ही जारी था। उनके पुत्र बालशर्मा भी बहुत विद्वान, तेजस्वी एवं शूरवीर थे। भाग्यवती नामक शीलवती कन्या के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ और देव समान पुत्र की प्राप्ति होते ही परिवार आनन्दविभोर हो उठा। पुत्र का नाम रखा गया, 'देव!' उसकी धर्मपरायण प्रवृत्ति, संस्कारपूर्ण व्यवहार एवं शास्त्राभ्यास तथा पूजा-कथा एवं देव-दर्शन आदि के सिवा किसी भी भौतिक क्रिया में अरुचि इत्यादि सद्‌गुण देखकर लोग उसे 'धर्मदेव' कहने लगे।

ऐसे सर्वगुण सम्पन्न तथा समृद्ध परिवार के युवक के विवाह का प्रस्ताव अयोध्या के समीप बसे हुए छपिया गाँव से आया। कृष्णराम शर्मा इस छोटे-से गाँव में बड़े सम्मानित विद्वान थे। अपनी गुणवती पुत्री बाला-प्रेमवती के साथ धर्मदेव के विवाह का प्रस्ताव वे स्वयं लेकर आए थे। कुछ ही समय के बाद विवाह-तिथि निश्चित कर ली गई। विवाह के दिन अपनी इकलौती बेटी के विरह में कृष्णराम बिलख उठे। बेटी से दूर होने के विचार से ही उनके हृदय में हाहाकार मच गया।

देव शर्मा ने कृष्णराम की ऐसी दुर्दशा देखते ही निर्णय ले लिया, 'मैं आपकी बेटी को लेकर रैहटक नहीं जाऊँगा। वैसे भी छपिया में आपको एक विद्वान सहायक की आवश्यकता है और गाँव के बच्चों के लिए अध्यापन का कार्य भी करना है, अत: मैं आपका अच्छा सहायक बन सकता हूँ।' अन्ततः धर्मदेव ने पिता के समृद्ध परिवार को छोड़कर, उत्तर कौशल प्रान्त के पवित्र तीर्थधाम मखोड़ा के पास मनोरमा नदी के समीप छोटे-से छपिया गाँव को ही अपना वतन बना लिया।

बाला-प्रेमवती अत्यंत भक्तिमय जीवन बिता रही थीं। उन्हें हनुमानजी में अनन्य आस्था थी धर्मदेव भी ब्रह्मकर्म, सन्ध्या-वन्दन, शास्त्राभ्यास और भगवत्-साधना करते हुए अपना व्यवहारकार्य संभालते

रहते। प्रथम पुत्र रामप्रताप के जन्म के बाद इस घर को छोटे-से गाँव के दुर्जनों ने द्वेष की आँच में जलाना प्रारम्भ कर दिया। किसी न किसी प्रकार इस सन्तुष्ट एवं शीलवंत परिवार को मन्त्र-अभिचार, तन्त्रविद्या, ईर्ष्या और कलह से परेशान करना ही उनकी प्रधान प्रवृत्ति बन गई थी।

ऐसी विपरीत परिस्थितियों के रहते इस पवित्र दम्पति ने ईश्वर की शरण में जाने का निश्चय कर लिया। रामप्रताप को अपने स्वजनों के घर रखकर दोनों काशीपुरी की यात्रा के लिए निकल पड़े। यहाँ दोनों ने व्रत-उपवास और साधना का एकाग्रता से पालन किया। वैष्णवाचार्यों के मुख से भगवत्-कथामृत पान किया, स्वामी रामानन्दजी का शिष्यत्व ग्रहण किया और 'जपयज्ञ' का प्रारम्भ भी यहीं किया। अन्त में स्वयं परमात्मा ने दर्शन देकर दोनों की साधना पर प्रसन्नता व्यक्त की। स्वयं भगवान पुरुषोत्तम नारायण ने इस धर्मनिरत, पवित्र दम्पति को आशीर्वाद दिया, 'मैं स्वयं तुम्हारे घर पुत्र के रूप में जन्म लूँगा! अधर्म का ह्रास करके धर्म का उदय करूँगा।' दम्पति इस आशीर्वाद से धन्य हुए! यात्रा समाप्त करके वे छपिया लौटे ही थे कि पूरी सृष्टि के रंग सुनहरे होने लगे। द्वेषी सब द्वेष छिपाकर शान्त होने लगे। वातावरण में मांगल्य की सुवास बिखरने लगी और वह शुभ दिन आ गया; आषाढ़ी सं. 1837, चैत्र शुक्ला नवमी के मंगल दिन रात्रि के समय माँ भक्ति की कोख से प्रभु ने इस धरा पर अवतरण किया।[8]

'श्री पुरुषोत्तम क्षर अक्षर पर, अखिल भुवन आधार हो!
निज इच्छा तें वृषधर प्रकटे, निज जन सुख दातार हो!'[9]

बालक के जन्म के साथ ही पूरे गाँव में सभी लोग अपने मन में यही सोचने लगे : निश्चित ही आज धर्मदेव और भक्तिदेवी के घर एक दिव्य और अद्भुत बालक का अवतरण हुआ है!

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार बालक के शरीर पर तथा दोनों चरणों में ऐसे असाधारण चिह्न थे, जिन्हें देखकर उनकी लोकोत्तर प्रतिभा के विषय में ज्योतिषियों तथा मनीषियों की एक ही राय थी : यह बालक, धर्मदेव का सर्वथा विलक्षण एवं प्रतिभावंत पुत्र है!

---

8. दिनांक : ३ अप्रैल, सन् १७८१, सोमवार।
9. स्वामिनारायणीय सन्त कवि स्वामी मुक्तानन्दजी, 'कीर्तनावली' : पृ. १२५।

बालक की भगवत् प्रतिभा का साक्षात्कार उसी क्षण हुआ जब इसके जन्म होते ही पूरा कक्ष प्रकाश-पुंज के रूप में बदल गया था! इस ऐश्वर्यशाली बालक का नामाभिधान हुआ : घनश्याम!

तत्कालीन कुलपरम्परा को निभाते हुए एक दिन पिता धर्मदेव ने घनश्याम की अभिरुचि को परखने के लिए एक स्वर्ण मुद्रा, एक तलवार और श्रीमद्भगवद्गीता का ग्रन्थ एक चौकी पर रखकर मात्र चार-पाँच माह के बालप्रभु को अपने समीप बुलाया। घनश्याम ने समीप आते ही बिना हकलाए पलक झपकते ही ग्रन्थ को उठा लिया!

पिता सोचते ही रह गए : वास्तव में यह बालक विद्वानों में भी शीर्षस्थ होगा। शास्त्रों के रहस्यों को उजागर करके सद्धर्म का प्रवर्तन करेगा। - और हुआ भी यही। प्रभु को विद्या एवं शास्त्रों के अभ्यास का व्यासंग जीवन के अन्त तक इतना ही ताज़ा था।

धर्म परायण एवं विद्वान पिता का संग था, माँ भक्ति के कारण घर में गोपूजा, वृक्ष-पूजा, व्रतादि का पालन होता था, देव-दर्शन इत्यादि नित्यकर्म घर में सदैव होते रहते थे, जिसके फलस्वरूप घनश्याम का लगाव ऐसी आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की ओर सहज ही रहा करता था! उन्होंने बड़ी उम्र में उन दिनों की स्मृति इस प्रकार व्यक्त की है :

'मैं जब छोटा था, तब भी देव-दर्शन, कथा-वार्ता, सन्तों का सत्संग तथा तीर्थ-यात्रा को जाना मुझे बहुत रुचिकर लगता था...।'[10] तथा 'मुझे बचपन में ही स्वामी कार्तिकेय की तरह ऐसा विचार था कि मुझे इतना भारी तप करना है कि मेरी माता द्वारा प्राप्त इस शरीर से माँ के अंश रूप रक्त और मांस सूखकर क्षीण हो जाए। अत: (वन विचरण के दौरान) भीषण तप के बाद शरीर इतना दुर्बल कर दिया कि कुछ घाव लग जाए तो शरीर से रुधिर नहीं, पानी की बूंदें निकलने लगतीं!'[11]

❖ ❖ ❖

एक दिन छपिया गाँव के मीन सरोवर पर घनश्याम अपने मित्रों के साथ स्नान करने पहुँच गए और देखा कि एक मछुआरा जल में जाल

---

10. वचनामृत ग. म. ५५।

11. वचनामृत का. ३।

बिछाए खड़ा था किनारे पर लगी टोकरी में ढेर सारी मछलियाँ निश्चेतन पड़ी थीं। जाल से अभी-अभी निकली मछलियाँ जीने के लिए छटपटा रही थीं। घनश्याम इन तड़पते जीवों को देखकर द्रवित हो गए। मछुआरे को समझाने के लिए आगे बढ़े! सखावृन्द साथ ही में था। प्रभु ने कहा, 'तुम यह हिंसा क्यों करते हो? इन निर्दोष जीवों की हत्या से तुम्हें क्या लाभ प्राप्त होगा?'

'यह मेरा निजी मामला है।' मछुआए आगबबूला हो रहा था, 'क्या मतलब है तुम्हारा? मैं बिना कमाई किए भूखा मरूँ? और मेरी बीबी-बच्चे भी भूखों दम तोड़ दें? बड़े आ गए दया के पुजारी! चलो भाग जाओ यहाँ से!' वह पुनः जल में बिछाया जाल खींचने में जुट गया।

घनश्याम ने सोचा - यह विनती से माननेवाला नहीं है! उन्होंने टोकरियों पर करुणादृष्टि गड़ाई कि पलभर में मृत मछलियों में चैतन्यता का संचार हुआ। कूद-कूदकर वे देखते ही देखते जीवंत होकर जल में विलीन हो गईं और मछुआरा भौंचक्का-सा खड़ा देखता रह गया। उस भीमकाय आदमी की लालसुर्ख आँखों से चिनगारियाँ फूटने लगीं। वह घनश्याम को पीटने के लिए कदम बढ़ा ही रहा था कि घनश्याम के स्वरूप से अचानक सहस्त्र शस्त्रधारी यमराज का भयानक स्वरूप उभर उठा। मारे भय के मछुआरे का अंग-अंग काँपने लगा। अंतरिक्ष यमदूतों द्वारा उसकी जमकर पिटाई हुई। नरक के दर्दनाक दुःखों के भयानक दर्शन से मछुआरा जोरों से कराहने लगा। घनश्याम के चरणों में गिड़गिड़ाते हुए उसने प्रार्थना की, 'मुझे क्षमा करें प्रभु, आज से मैं कभी हिंसा नहीं करूँगा। अपने निर्वाह के अन्य साधन मैं स्वयं ही खोज लूँगा। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।'

घनश्याम के मुख पर सन्तोष की प्रभा फैल गई। इस प्रकार अपने क्रान्तिदर्शी कार्यों का प्रारम्भ उन्होंने बचपन से ही कर दिया था।

❖ ❖ ❖

वीतराग घनश्याम की प्रकृति थी और अनासक्ति उनकी स्वाभाविकता। बालप्रभु की ऐसी निःस्पृहता का दर्शन उनके यज्ञोपवीत धारण के अवसर पर प्राप्त होता है।

परिवार के पुरोहित हरिकृष्ण उपाध्याय ने आठ वर्षीय घनश्याम के

लिए फाल्गुन शुक्ला दशवीं का दिन यज्ञोपवीत धारण के लिए चुना। मुहूर्त के अनुसार जनेऊ देने की तैयारी में परिवार के सभी सदस्य व्यस्त थे। शहनाई के पवित्र सुर प्रात:काल से ही बजने लगे और यज्ञ-मंडप में बालप्रभु का आगमन हुआ। ब्रह्मचारी का वेश प्रभु के मुण्डन-मंडित मुखकमल से तेजस्विता निखर रही थी, दण्ड, कमण्डलु और भिक्षापात्र से सुशोभित घनश्याम ने वैदिक मन्त्रोच्चार से यज्ञोपवीत धारण किया, दोपहर होते-होते बरुआ दौड़ाने का समय आ गया है, उस समय घनश्याम क्या सोच रहे थे?, 'मुझे अनन्त जीवों का कल्याण करना है। इस छोटे-से गाँव में अधिक दिन व्यतीत करने से मुझे क्या लाभ है? आज ही घर-संसार का त्याग करके हिमालय की चोटियों पर खो जाऊँगा। घने जंगलों में तपस्या करूँगा। गाँव-गाँव, शहर-शहर में व्याप्त अज्ञान, वहम, व्यसन और वासना के शिकंजे में पिस रहे मुमुक्षुओं को बाहर निकालूँगा। मामा की पहुँच में कभी नहीं आऊँगा, देखता हूँ, वे मुझे कैसे पकड़ पाते हैं।'

- और घनश्याम बरुआ दौड़ते ही तीर की भांति गाँव की सीमा की ओर भागने लगे। मामा विश्राम शर्मा थककर चूर हो गए, लेकिन आज घनश्याम हाथ आनेवाले नहीं थे। उनको पूरे संसार के दु:ख-दर्द से पीड़ित मनुष्यों की पुकार सुनाई दे रही थी...। आखिर मामा ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, 'बेटा घनश्याम, कहाँ दौड़े जा रहे हो? यदि कहीं भाग निकलने की सोचते हो, तो माँ-बाप की सूरत को याद कर लो बेटा। वे इतने दु:खी होंगे कि बिलख-बिलखकर प्राण निकाल देंगे। मेरी प्रतिष्ठा बचा लो बेटे...।' मामा के आर्तनाद ने घनश्याम की गति मंद कर दी। निर्दोष और परम पवित्र माता-पिता को यूँ ही छोड़कर चले जाना ठीक नहीं होगा। वे सोचते रहे और मामा ने बड़े प्यार से उन्हें गोद में उठा लिया। त्याग की ज्योति करुणा के बादलों के पीछे ढककर रह गई।

❖ ❖ ❖

वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत एवं तुलसीकृत रामायण का शेष रहा अभ्यास उन्होंने केवल 10 साल की उम्र में अपने पिता के पास रहकर समाप्त कर लिया था! उनकी ग्रहण-शक्ति से भी बढ़कर उनकी अभिव्यक्ति की कुशलता को देखकर विद्वान भी चकित रह जाते!

पिता धर्मदेव ने काशी में आयोजित ऐसी ही एक विद्वत्-परिषद् का प्रमुखपद ग्रहण किया था, उस अवसर पर घनश्याम भी साथ हो लिए। पंडितों में अपने-अपने पक्ष को श्रेष्ठतर सिद्ध करने की भारी बहस छिड़ गई थी। घनश्याम चर्चा के प्रथम क्षण से ही सतर्कता पूर्वक संस्कृत भाषा में हो रही इस बहस में तल्लीन हो चुके थे। कोई पक्ष किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने में सफल नहीं हो रहा था।

'पिताजी, मैं भी कुछ बोलूँ?' मानो बादलों की गड़गड़ाहट के बीच मयूर गहक उठा! पिताजी ने स्मित करते हुए घनश्याम को अपनी सहमति दी और इस दस वर्षीय बालक ने विद्वत् परिषद् को देखते ही देखते एक पक्ष के निष्क्रर्ष पर स्थापित कर दिया! समग्र सभा दिग्मूढ़ होकर पिता-पुत्र की इस अद्वितीय जोड़ी की ओर देखती रह गई! घनश्याम के सारग्राही प्रवचन की समाप्ति होते ही सभी विद्वानों ने दोनों की ज़ोरदार सराहना करते हुए घनश्याम को अन्त:करण से बधाई दी!

भक्ति सम्प्रदाय में परिशुद्धि लाने का उनका ध्येय संसार को उसी दिन ज्ञात हो गया था।

❖ ❖ ❖

घनश्याम की तेजस्विता ने गाँव के सज्जनों को भक्ति का आधार प्रदान किया तो गाँव के दुर्जनों को भयभीत कर दिया था। बचपन से ही उनका व्यक्तित्व ऐसा प्रभावक था कि दुष्ट प्रकृति के लोग उनके सान्निध्य में अकारण ही अधिकतर बेचैन हुए रहते थे। इन दुष्टों ने मिलकर भक्ति माँ के चचेरे भाई कालिदत्त को बहुत उकसाया। यह कालिदत्त अभिचार के तन्त्रज्ञान का अनन्य अभ्यासी था। विकृत साधनाओं ने उसके मन-हृदय को भी कलुषित कर दिया था। उसने दो बार घनश्याम की हत्या का निष्फल प्रयास किया; जिसके परिणामस्वरूप दुष्टों की टोली से बचने के लिए पूरे कुटुम्ब ने छपिया छोड़कर तीर्थधाम अयोध्या को अपना निवास बना लिया। यहाँ तो प्रभु के अनासक्त मन को भक्ति, देवदर्शन तथा कथा-श्रवण की अधिक अनुकूलता होने लगी।

❖ ❖ ❖

बालप्रभु बचपन से देखते आ रहे थे कि धर्म के नाम पर चलता आडम्बर उस हद तक फ़ैला हुआ है कि खुद त्यागी बने हुए कुछ लोग अधर्म के पक्षधर होकर धर्मकार्य में बाधा डालना ही जीवन की सार्थकता समझते थे! ऐसे विकट समय में घनश्याम मौन नहीं बैठे! चाहे वह बड़ा महात्मा या बड़ा विद्वान् ही क्यों न कहलाता हो! उनसे अध्यात्म की ओर अग्रसर करती किसी भी क्रिया का मज़ाक उड़ाना कभी सहन नहीं होता था।

प्रतिदिन की भाँति वे हनुमान गढ़ी पहुँचे। रामायण का पाठ हो रहा था। पुराणी मोहनदास बाबा ने टिप्पणी करते हुए कहा, 'एकादशी के एक उपवास से जो फल प्राप्त होता है, उतना फल सौ या हज़ार राजसूय यज्ञ करने पर भी नहीं मिलता!'

घनश्याम यह सुनते ही मुस्कुरा दिए और धीरे से बाबाजी से पूछ लिया, 'बाबाजी, इतनी सारी महिमा एकादशी के विषय पर लिखी गई है, फिर भी लोग एकादशी जैसा महान व्रत क्यों नहीं करते?'

छोटे से मुँह से इतना परिपक्व प्रश्न सुनते ही बाबा विस्मित रह गए। फिर घनश्याम के प्रश्न की खिल्ली उड़ाते हुए कहने लगे, 'यह शरीर भगवान ने हमें तप करके सुखा देने के लिए नहीं, इसे तो खा-पीकर हट्टे-कट्टे बनने के लिए दिया है। एकादशी को तो जगन्नाथ पुरी में अधर पर लटका के रख दिया है!'

बिना सिर-पैर की ये बातें सुनकर घनश्याम तमतमा गए। एक शब्द भी बोले बिना वे उठकर चल दिए। सारी सभा इस तेजस्वी और निर्भय बालक को जाते देखती रही। कितने ही श्रोता घनश्याम का यह अपमान सहन नहीं कर पाए। लोगों ने बाबाजी को अच्छी तरह बोध-पाठ सिखाया, 'धर्म की गद्दी पर बैठकर धर्म की हंसी उड़ाने में तुम्हें शर्म नहीं आती? क्या तुम घनश्याम को खिलौना समझ बैठे हो? तुम जानते हो कि वे कौन है?'

श्रोताओं का आक्रोश देखकर बाबा की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। वह घनश्याम के पास मन्दिर के बाहर आकर उनके चरणों में बैठते हुए गिड़गिड़ाने लगा, 'प्रभु, मेरे अपराध क्षमा करो!'

प्रभु ने उन्हें अपलक देखते हुए धीरे से आशीर्वाद दिया, 'अब से धर्मशास्त्रों का सही अर्थ करते रहना। लोगों को गलत राह दिखाने की चेष्टा कभी मत करना। वह मार्ग केवल दूसरों के लिए ही नहीं, तुम्हारे लिए भी नरक की दिशा खोल देता है।'

बाबा इन वचनों को सुनते ही सिहर उठा, उसने पुनः ऐसा कभी नहीं करने की प्रतिज्ञा की। घनश्याम के आशीर्वाद से उसका अन्तःकरण निर्मल हो गया।

भागवत धर्म के स्थापन का मानो यह प्रथम चरण था! लोग इस स्पष्ट वक्ता बालक की सत्यनिष्ठा पर आश्चर्य चकित रह गए।

❖ ❖ ❖

घनश्याम ने मल्लविद्या में भी कुछ ही दिनों में महारत हासिल कर ली। वेणी, माधव, प्राग आदि मित्रों का संग तो यहाँ अयोध्या में वैसे भी छूट गया था। माता-पिता का स्वास्थ्य भी दिन-प्रतिदिन गिरने लगा था। घनश्याम कभी-कभी गहरी सोच में डूबे रहते थे। बड़े भैया रामप्रताप तथा भाभी सुवासिनी ने घर का कार्यभार अपने कन्धों पर उठा लिया था। घनश्याम हनुमान गढ़ी, कनक मन्दिर आदि देव-स्थानों में घण्टों तक कथाश्रवण करते हुए बिता देते थे। वे प्रायः छपिया गाँव के उस पीपल वृक्ष की शाखाओं को याद किया करते थे, जिसकी सबसे ऊँची टहनियों पर चढ़कर वे घण्टों तक पश्चिम दिशा की ओर ताकते रहते थे। मित्र पूछते कि घनश्याम, वहीं बैठकर पश्चिम की ओर क्या ताकते रहते हो? तो घनश्याम कुछ खोए हुए से कहते, 'मैं वहीं जाऊँगा! वहाँ हज़ारों भक्त मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं यहाँ नहीं रहूँगा!'

घनश्याम को मित्रों के उदास चेहरों की ओर देखने की भी सुध नहीं रहती। यहाँ अयोध्या में भी प्रभु की अनासक्ति देखकर माँ भक्ति का हृदय व्यग्र हो उठता, परन्तु दुर्बल स्वास्थ्य और दुर्बल मनोदशा में वह भी कुछ बोल नहीं पातीं। एक दिन मृत्युशय्या पर उन्होंने अपने लाड़ले घनश्याम को बुलाया, स्नेहवश आँखों से अश्रु गिरने लगे, बोलीं – 'बेटा! मैं तो अब नहीं रहूँगी! तुम सामान्य नहीं हो बेटा, यह मैं बचपन से देख रही हूँ, आज मुझे मेरी मुक्ति का मार्ग बताकर मेरा कल्याण करो!'

घनश्याम ने माँ का हाथ पकड़ लिया। आँखों में जाँककर देखा और वे समझ गए कि निश्चित ही आज माता का आखिरी दिन है! माँ को बड़े प्रेमभाव से सन्त-महिमा, सत्संग का लाभ तथा प्रभु-महिमा की बातें कहकर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। अपने सर्वावतारी परब्रह्म स्वरूप की निष्ठा दृढ़ करवाकर अपने धाम के मार्ग पर प्रशस्त किया।

कुछ ही पलों में माता ने अपने लाड़ले की गोद में सिर रखते हुए शरीर-लीला समाप्त की। घनश्याम की उदासीनता अब और गहरी होती चली गई। पिता धर्मदेवजी देख रहे थे कि इस अनासक्त बालक की रुचि न संसार में है, न स्वजनों में न जाने किस सोच में यह पूरा दिन खोया हुआ सा रहता है। अपने ज्येष्ठ पुत्र को उन्होंने कहा भी था, 'बेटा, घनश्याम को बड़े प्यार से संभालना। वह अलौकिक और दिव्य-विभूति है। स्वयं परब्रह्म है। संसार में उसकी तनिक भी रुचि नहीं, कहीं तुम्हें छोड़कर चला न जाए...। मुझे तो लगता है कि यह हमारे परिवार के लिए नहीं, पूरे विश्व-परिवार के लिए ही इस धरातल पर आया है। तुम्हें इस विभूति का पूरे हृदय से जतन करना होगा।'

रामप्रतापभाई ने पिता के वचन शिरोधार्य किए। कुछ ही दिनों में धर्मदेव ने भी अपनी शरीर-लीला समेट ली! इस प्रकार केवल सात महीनों के अन्तराल में माता-पिता का देहान्त हो गया। ग्यारहवें वर्ष में कदम रखनेवाले घनश्याम अब स्व-निरत रहकर गहरे चिन्तन में मग्न रहने लगे।

मल्लों का अखाड़ा और विविध देवस्थान ये दो ही उनकी प्रवृत्ति के केन्द्र रह गए थे। एक दिन मल्लों के अखाड़े में एक विराटकाय अभिमानी मल्ल ने मासूम घनश्याम को यूं ही ललकारा तो घनश्याम ने उसको खेल ही खेल में नानी याद करा दी। अपने हाथ की टूटी हुई हड्डी को दिखाकर उस मल्ल ने रामप्रतापभाई से घनश्याम की शिकायत की। बड़े भैया ने घनश्याम को डपटकर कहा, 'माता-पिता के देहावसान के बाद तुम्हें क्या हो गया है? क्यों आती हैं इतनी शिकायतें? आईन्दा एक भी शिकायत नहीं आनी चाहिए, समझे?' इस चेतावनी को सुनकर घनश्याम मात्र एक वाक्य बोले थे, 'दाऊ, अब मेरी शिकायत कभी नहीं आएगी!' दाऊ सन्तुष्ट हुए पर अपने विधान के मर्म को घनश्याम ही जानते थे।

इस प्रसंग के बाद बड़े भैया कुछ और ही दिशा में सोचने लगे : क्यों न घनश्याम का विवाह करा दिया जाए? खंभारिया गाँव के निहाल मिश्र की पुत्री चन्द्रकला, घनश्याम के लिए अत्यन्त उपयुक्त कन्या होगी। सुशील भी है और गुणवती भी। अपनी पत्नी सुवासिनी के साथ इस विषय पर परामर्श करके रामप्रतापभाई ने पिता-पुत्री को अयोध्या आने का निमन्त्रण दे दिया, किन्तु घनश्याम का चित्त महात्याग के उस पथ की ओर अग्रसर हो रहा था जिस पर चलकर भारतवर्ष के कई महापुरुषों ने लोककल्याण का मार्ग प्रशस्त किया था। निहाल मिश्र अपनी बेटी को लेकर घनश्याम के घर आ पहुँचे तो घनश्याम को समझने में देर न लगी कि इस कन्या को किस हेतु यहाँ लाया गया है। उनके मन में सुदृढ़ संकल्प की हिमालय-सी दृढ़ता आकार लेने लगी थी। दोपहर का भोजन लेते हुए अपनी भाभी सुवासिनी को मुस्कुराते हुए घनश्याम ने कहा, 'भाभी, आज यह तुम्हारे हाथ का अन्तिम भोजन ले रहा हूँ।'

निर्दोषता की प्रतिमूर्ति उस वात्सल्यमयी भाभी का मन पलभर के लिए सिहर उठा था, किन्तु दूसरे ही पल वह लौकिकता के ढलान पर लुढ़कने लगी, 'अरे, अब शादी तो हो लेने दो! न सम्बंध हुआ है, न शादी और आज से ही भाभी के साथ सम्बंध तोड़ने जा रहे हो?'

घनश्याम ने सुवासिनी भाभी के अज्ञानता के कवच को तोड़ना नहीं चाहा। रामप्रतापभाई ने भोजन के बाद घनश्याम के पास आकर धीरे-से निहाल मिश्र के विषय में बताया और कहा, 'वह अभी तुमसे मिलना चाहते हैं...।' और घनश्याम की ठंडी आँखें बड़े भैया के चेहरे पर स्थिर हो गईं। गुफ़ा के भीतर से सरकती अनजान और सर्द हवा-सा निश्चल उत्तर घनश्याम के मुख से निकल पड़ा, 'मैं उनसे मिलना नहीं चाहता। वे जिस काम के लिए आए हैं, वह सिद्ध होनेवाला नहीं है।'

विद्युत की भाँति चमक रही घनश्याम की आँखों में पहाड़-सी अचलता थी, आवाज़ में वीतराग तथा आँखों में तलवार की ऐसी खनक थी जो संसार के हर बन्धनों को काटने में समर्थ थी। रामप्रतापजी ने सोचा : घनश्याम ने बालहठ पकड़ रखी है, जो आज नहीं होगा, वह दो-पाँच महीनों के बाद भी हो सकता है। उन्होंने क्षमायाचना करके पिता-पुत्री को

वापस लौटा दिया। घनश्याम ने उसी रात सोच लिया कि अब देर नहीं लगानी चाहिए।

अनेक प्रकार की लोकोत्तर लीलाओं से स्थानीय हज़ारों लोगों को अपने ईश्वरीय स्वरूप की प्रतीति करवाकर और माता-पिता को मोक्ष प्रदान करके, अनेक जीवों को अपने अक्षरधाम के पथ का पथिक बनाने के लिए वे संसार-त्याग का निर्णय कर चुके थे।

भारत के हर मुमुक्षु को जिनकी प्रतीक्षा थी,

अधर्म से जड़ बनी हुई प्रजा को धर्म-संजीवनी की वर्षा होने की जो अपेक्षा थी,

उलझे हुए तत्त्वज्ञान की गुत्थियों को सुलझानेवाले निष्णात युगविभूति की संसार बाट देख रहा था...

- और घनश्याम मात्र ग्यारह साल, सात मास तथा एक दिन की उम्र में उस आषाढ़ी मेघाच्छन्न रात के तीसरे प्रहर के बाद, गरजते हुए और बूँदाबाँदी कर रहे बादलों की छाँव में हिमालय की ओर जाने के लिए निकल पड़े।

दाऊ और भाभी सो रहे थे, पूरी अयोध्या निद्रा की गोद में आश्रय ले चुकी थी। जाग रहे थे, सिर्फ घनश्याम। विश्व को जगाने की जिसकी आत्मा में ललक थी भारत के मुमुक्षुओं को मोक्ष देने की जिसमें ताक़त थी। वह पुण्यभागी दिन था आषाढ़ी संवत् 1849 (सन् 1792) आषाढ़ शुक्ल दशवीं का।[12]

आज से घनश्याम की इस अद्वितीय कल्याण-यात्रा का प्रारम्भ हुआ था।

❀ ✿ ❀

12. दिनांक २९-६-१७९२।



कल्याण यात्रा में ब्रह्मचारी नीलकंठ

3

नीलकंठ ब्रह्मचारी - विरल परिव्राजक

घनश्याम के व्यक्तित्व से विकीर्ण होती आभा ही इतनी अलौकिक थी कि छपिया-अयोध्या का छोटा-सा इलाका उनकी कल्याण भावना के विराट् संकल्प के सामने बौना जान पड़ता था। सूर्य कोई एकाध परिवार के कोने में सिमटकर नहीं रह सकता, उसके लिए तो पूरे आकाश का स्वामित्व ही आदर्श होता है। घनश्याम भी अपने विराट् उद्देश्यों को लेकर संसार के विराट् प्रवाह में कदम रखने जा रहे थे। मन में लोकहित की कामना, कदमों में बिजली-सी गति और चित्त में पहाड़ सी अचलता थी। उन्होंने एक बार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा।

न पाँवों में मोजड़ी है, न चाखड़ी, मूंज की मेखला के आधार पर कौपीन धारण की है, शरीर पर मृगचर्म, एक हाथ में पलाश का दण्ड, दूसरे हाथ में माला, छोटा-सा कमंडलु, भिक्षापात्र, जल छानने के लिए वस्त्र का टुकड़ा, शालिग्राम की मूर्ति और समस्त शास्त्रों की साररूप गुटिका! यही थी नीलकंठ की सम्पत्ति! और यही था नीलकंठ का स्वरूप!

हाँ, घनश्याम ने आज से अपनी पहचान इस नाम के साथ बदल

डाली थी। वे अब से नीलकंठ ब्रह्मचारी नाम से प्रसिद्ध होने लगे। इतनी छोटी सी उम्र में केवल तपस्या और लोक-कल्याण के लिए एकाकी रूप में भीषण जंगलों की ओर निकल पड़ना, विश्व इतिहास की यह संभवतः एकमात्र घटना होगी!

वे कहते भी हैं, 'जब हम घर छोड़कर निकले, तब तो एक वस्त्र भी अधिक रखना पसंद नहीं था! वन-जंगल का निवास ही मुझे रुचिकर लगता और भय तो किसी से भी नहीं लगता था! भयंकर जंगलों में हमने बड़े-बड़े सर्प, सिंह, हाथी इत्यादि अनन्त पशु देखे, लेकिन मृत्यु का भय तो हमें तनिक भी नहीं लगा। ऐसे महावन में भी हम सर्वदा निर्भय होकर रहते थे!'[13]

विस्मित करनेवाली बात तो यह है कि बिना नक्शा लिए उन्होंने जो स्थान तथा मार्ग चुने, बिना तिथि-पत्र उन्होंने तीर्थस्थानों में होते उत्सवों पर उचित समय पर पहुँचकर जो लाभ लिया तथा बिना किसी सुविधा या साधन के अपने स्वयं के चरित्र-बल पर तथा दिव्य व्यक्तित्व से हज़ारों लोगों पर तथा सैकड़ों सन्त-महात्माओं पर उच्चतम जीवन-मूल्यों का प्रभाव डाला, वह अपने आप में अद्भुत है।

आईए, चलें नीलकंठ ब्रह्मचारी के साथ भारत के कुछ ऐसे प्रमुख तीर्थों में, जहाँ उन के अद्भुत व्यक्तित्व का प्रभाव इतिहास के प्रवाह में स्थिर बनकर ठहर गया है।

सूर्य की पहली किरण अयोध्या के मन्दिरों के सुवर्ण-कलशों को प्रकाशित करे, उससे पहले ब्रह्मचारी को कहीं कोसों दूर निकल जाना था। उन्होंने सरयू नदी के किनारे की बाट पकड़ ली। पुण्य सलिला सरयू का आज का रूप भयानक था। दोनों किनारों पर लबालब भरी हुई इस नदी का प्रवाह बाढ़ की भाँति हिल्लोरें ले रहा था। दो पल के लिए नीलकंठ वहीं किनारे पर ठहरे कि एक भीमकाय आदमी ने आकर घोघले आवाज़ में ब्रह्मचारी से पूछा, 'क्या सरयू के पार जाना है?'

'जी हाँ...।' ब्रह्मचारी ने संक्षेप में कहा, इतने में न जाने कैसे उसने बालप्रभु को फूल की भांति उठा लिया और अट्टहास करके सरयू के

13. वचनामृत ग. म. ५५।

विनाशक तांडव करते पानी की ओर फेंक दिया! ब्रह्मचारी ने देख लिया : वह दूसरा कोई नहीं, अपने दूर के मामा तांत्रिक कालिदत्त का छोटा भाई कौशिक था। घनश्याम पर जन्म से ही अभिचार प्रयोग करके थक चुके उस कालिदत्त का घनश्याम की कोपदृष्टि से भीषण अन्त हुआ था, तभी से प्रतिशोध की ज्वाला में धधकता हुआ कौशिक घनश्याम के पीछे भूत की भांति मारा-मारा फिरता था। आज उसे भी अपने कर्म का फल मिल गया। नीलकंठ के मृत्यु की भ्रांति में खुशी से चीत्कार करता हुआ वह पागल की भाँति एक सूखे पेड़ के तने के साथ जोर से टकराया और सिर पीट-पीटकर बिलखने लगा। कुछ ही पलों में उसका पहाड़-सा शरीर हवा में लहराया और वह मुँह के बल गिर पड़ा। उसकी जान निकल गई थी। ब्रह्मचारी ने नदी के इस विनाशक प्रवाह में अपने शरीर को शिथिल छोड़ दिया और कोसों तक बहते चले गए।

ब्रह्मचारी का यह पहला दिन था। उन्होंने यहाँ से हिमालय के उत्तुंग शिखरों का कठिनतम मार्ग चुन लिया।

निर्भयता की प्रतिमूर्ति

सैंकड़ों सिद्ध योगियों का जहाँ डेरा रहता है, हर सनातनी हिन्दू जिसके दर्शन के लिए लालायित रहता है, जो अध्यात्म की गंगोत्री के समान अनेक ऋषि-महात्माओं की तपोभूमि है, ऐसे नगाधिराज हिमालय में प्रवेश हरद्वार से होता है। ब्रह्मचारी ने हरद्वार में शिवजी की सेवा पाकर श्रीपुर का मार्ग पकड़ लिया।

मृत्यु को मुठ्ठी में लेकर निकले नीलकंठ की सामर्थ्य केवल साहसीक यात्रिक की ही नहीं थी, वे आत्मज्ञान की सत्यता पर खुमार रखनेवाले थे, जगन्मिथ्या की समझ को आधार बनानेवाले थे। यही उनकी पारलौकिक प्रतिभा की पहचान थी जो हमें भी आत्मज्ञान के गौरव की ओर प्रेरित करती है।

रुद्रप्रयाग तीर्थ के समीप विद्यमान छोटे से तीर्थ श्रीनगर में उनके दर्शन पाने का सौभाग्य कमलेश्वर मठ के मठाधीश को मिला था।[14]

---

14. सन् १९८७ में पूज्य प्रमुखस्वामी महाराज ने श्रीनगर के इस मठ के वर्तमान महन्त से भेंट की थी। वर्तमान महन्त ने कमलेश्वर महादेव मठ में भगवान

बालप्रभु ने श्रीनगर में जब कदम रखा तो संध्या ढल चुकी थी। गाँव में जाना उचित न समझकर गाँव के बाहर एक छोटे-से मठ के सामने ब्रह्मचारी ने आसन जमा दिया। न खाना, न पीना! मंदाकिनी की लहरें नृत्य करती हुई चाँदनी को प्रतिबिंबित कर रही थीं। रात की घनी नीरवता में उठते पशुओं के चीत्कार, वातावरण में भय और सिहरन-सी पैदा कर रहे थे। परंतु ब्रह्मचारी पेड़ की छाँव में निज-स्वरूप के ध्यान में निमग्न, स्थिरचित्त बैठ गए! अचानक शेर की दहाड़ सुनकर पूरा जंगल सिहर उठा। पंख फ़ड़फ़ड़ाते हुए पंछियों ने अपने घोंसले छोड़ दिए और शोर मचाने लगे। आश्रम की ऊँची चारदीवारी से एक खिड़की थोड़ी-सी खुली और बाहर का माहौल भाँपते ही किसी ने अपना मुँह खींचकर खिड़की बन्द कर ली। वह कोई और नहीं, इस मठ के महन्त थे! दरवाजे के ठीक सामने पेड़ के नीचे एक मासूम-सा बच्चा ध्यान लगाकर बैठा है, अभी-अभी शेर आ जाएगा। उस लड़के का क्या होगा? हाय! राम, राम! ब्रह्मचारी को बचाने के लिए महन्तजी को एक भी युक्ति नहीं सूझ रही थी।

उन्होंने धीरे से बाहर झाँका, दौड़कर ब्रह्मचारी को हिलाया : हड़बड़ाकर कहने लगे, 'चलो, जल्दी चलो तुम! यहाँ बाहर मौत मंडरा रही है! अभी-अभी शेर की दहाड़ नजदीक से सुनाई दी है...। तुम...।'

ब्रह्मचारी ने इस वृद्ध महन्तजी के वात्सल्य को पहचाना परन्तु मुस्कुराते हुए कहने लगे, 'महात्मन्, मैं मठ में नहीं आना चाहता! यहीं ठीक हूँ!'

'तो...। तो...। आप गाँव में चले जाइए ब्रह्मचारी! यहाँ मौत का भय है!' महन्तजी ने फिर प्रार्थना की।

स्वामिनारायण के आगमन के विषय में जानकारी दी थी। कमलेश्वर मठ के इतिहास के अनुसार श्रीमद् शंकराचार्य ने बदरीनाथ के मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा करके कमलेश्वर मन्दिर में प्राण प्रतिष्ठा की थी। टिहरी, गढ़वाल के महाराजा ने इस मठ को ६२ गाँव समर्पित किए थे। सन् १७८७ से १८१२ तक मठ के महन्त थे फ़क्कड निर्मलपुरीजी। नीलकंठ इस मठ में सन् १७९२ में पधारे थे। उन दिनों मठ की वार्षिक आय १ लाख रुपए से अधिक थं।

ब्रह्मचारी ने कहा, 'आप क्यों व्यर्थ में कष्ट उठा रहे हो महाराज, मेरा व्रत है, मैं गाँव में नहीं जा सकता! और रही मौत के भय की बात! मैं मौत से कभी नहीं डरता! किसी भी परिस्थिति में नहीं।'

'ठीक है, ठीक है! यही योगीहठ तुम्हें भारी पड़ेगी तब जाकर मुझे याद करोगे!' महात्मा व्याकुल होकर मठ के अन्दर बन्द हो गए किन्तु चिन्ता के कारण उनकी नींद उड़ चुकी थी। बार-बार वे खिड़की की दरार से बाहर का नज़ारा देखते रहते...। और अन्ततः वह क्षण आ गया जिसका महन्तजी को डर था! दहकते अंगारों सी आँखें दूर झाड़ियों से दिखने लगीं। एक और गर्जना के साथ, अगले ही पल एक विकराल शेर ब्रह्मचारी के सामने था।

महन्तजी मठ के भीतर, सेवकों के साथ रहने पर भी थरथराने लगे, इधर नीलकंठ निश्चिंत थे। शेर कुछ पलों तक ब्रह्मचारी को देखता रहा। उसकी गुर्राहट अब बन्द हो चुकी थी अगले ही क्षण पालतू कुत्ते की भाँति वह ब्रह्मचारी की गोद में आकर बैठ गया। नीलकंठ ने उसके सिर पर हाथ फेरा। कुछ घण्टे ऐसे ही बीत गए। महन्तजी भौंचक्के से होकर ब्रह्मचारी के व्यक्तित्व का भाँति-भाँति से अनुमान लगाने लगे। 'निश्चय ही यह बालरूप में कोई ईश्वरीय विभूति है!'

पौ फटने पर नीलकंठ स्नानविधि के लिए खड़े हुए तो सिंह भी साथ चला। नीलकंठ ने उसे संकेत किया और एक ही छलाँग में वह गहन झाड़ियों में अदृश्य हो गया।

महन्तजी अपने सेवकों के साथ ब्रह्मचारी से मिलने दौड़ पड़े और प्रभु के चरणों में गिरकर बोले, 'आप कौन हैं प्रभु? स्वयं परमेश्वर हैं या कोई भगवान अथवा कोई देवता? प्रभु, अब यहीं रहने की कृपा करें, यह मठ मैं आपके हवाले करता हूँ। राजा के कृपादान से मिली हुई सैकड़ों बीघे ज़मीन से इस आश्रम की वार्षिक आय लगभग एक लाख रुपयों से अधिक है।'

नीलकंठ की मुख मुद्रा पर एक लेशमात्र शिकन तक नहीं बदली। मंद स्मित करते उन्होंने इतना ही कहा, 'सम्पत्ति के ढेर की अपेक्षा होती तो संसार छोड़कर क्यों निकलता महाराज? मेरा उद्देश्य तो हज़ारों मुमुक्षुओं

को ढूँढना है, उनका कल्याण करना है...।' महन्तजी विचारों में डूब गये...। नीलकंठ निर्भय तो हैं ही, निर्लोभ और निःस्पृह भी हैं। - और तब तक बालयोगी के पाँव लक्ष्य की ओर उठ चुके थे।

हिमालय के तीर्थयात्री

अब नीलकंठ महाप्रभु का एक ही लक्ष्य था : हिमालय!

यही है निसर्ग देवताओं का क्रीडा स्थान! मन्त्रदृष्टा ऋषियों की वह अजरामर तपोभूमि! भारतवर्ष के प्राचीन गौरव का वह मूक साक्षी! स्फटिक शुभ्र तेजस्विता के साथ हिमशिखरों को लेकर जो राष्ट्र का प्रहरी बना खड़ा है, मानव के पादस्पर्श के दूषण से निरन्तर मुक्त! उसके अत्तुंग हिम शिखरों पर बालसूर्य की कोमल किरणें बिखरती हैं, तो मानो सोने का शिखरकलश झलक उठता है...। नीलकंठ ने इसी शहर से उन उत्तुंग शिखरों पर अपनी दृष्टि गड़ाई थी! न तो साथ में ठंड रोकने के वस्त्र थे और नही पैरों में काँटों सी बर्फ़ीली चुभन से बचने के लिए जूते या खड़ाऊँ!

गुप्तकाशी से उन्होंने त्रियुगीनारायण के कठिन मार्ग से केदारनाथ की ओर प्रस्थान किया। हिमालय के मुख्य चार तीर्थस्थानों में सबसे अधिक ऊँचाई पर विराजमान महादेव शिवशंभु के दर्शन के लिए नीलकंठ कदम-कदम पर खड़ी मौत को ठोकर मारकर आगे बढ़ते गए। वह वर्ष था ई.स. 1792 का और नीलकंठ की उम्र थी केवल 12 वर्ष।

हिमालय के प्रवासी स्वामी आनन्द की लेखनी से सन् 1960 का यह वर्णन पढ़िए, 'यह धाम सभी तीर्थ क्षेत्रों में सबसे ऊँचा है, अतः थर्रानेवाली ठंड और तेज गति से चलता पवन, शूल की भाँति शरीर के रोम-रोम में दिन-रात चुभता रहता है। चारों ओर हिमशृंगों के स्खलन से आती गड़गडाहट से कलेजा काँप जाता है...।'[15]

बाल नीलकंठ ऐसी ठंड में अपनी धुन में बर्फीले अन्धड़ को झेलते निश्चल मन से चले जा रहे थे। वे इतनी संकरी पगडंडियों पर ऐसी ऊँचाईयों से गुजर रहे थे कि कदम-कदम पर मौत की आहटें सुनाई पड़ती थीं। काल की ऐसी भीषण पदचाप को अनसुनी करते हुए नीलकंठ निसर्ग

15. हिमालयनां तीर्थस्थानो : (गुजराती) स्वामी आनन्द : पृ. १३५।

के फैले साम्राज्य को निहारते अपनी लीला पर मुस्कुरा रहे थे। प्रचण्ड पहाड़ों की अंतहीन शृंखला सामने पसरी हुई थी। सुमेरु महाशृंग की तलहटी में शोभायमान केदारनाथ मन्दिर के दर्शन से नीलकंठ आनन्द विभोर हो गये हैं। यह वही स्थान है, जहाँ समूचे भारतवर्ष की श्रद्धा एकत्र होकर भारत की आध्यात्मिक शक्ति का उद्घोष करती है।

नीलकंठ ने इस स्थान का दर्शन करने के पश्चात् विश्राम किया और कुछ दिन तक यहाँ ठहरे। अब उनका लक्ष्य था बदरीनाथ। उनको वह मार्ग नहीं पसंद था जिस पर हमेशा यात्रियों की भीड़ हो और जो रास्ता लगभग 100 मील की दूरी तय करता हो। वे तो हिमाच्छादित शिखरों को पार करके पूरे नौ दिन तक चलकर लगभग 4 मील की दूरी पार करना चाहते थे, किन्तु बीच में खड़ी थी तेईस हज़ार फ़ीट ऊँचे विराट् पहाड़ों की भयानक शृंखला। जहाँ एक-एक उँगली के सहारे घण्टों तक लटककर बर्फीली चट्टानें पार करके चार मील की दूरी तय की जा सकती है। किसी भी मानवीय साहस को ललकारने वाली यह यात्रा नीलकंठ को ही आमंत्रित कर रही थी और नीलकंठ ने वही मार्ग चुन लिया।

आश्विन शुक्ल प्रतिपदा का दिन था। नीलकंठ ब्राह्ममुहूर्त में जाग गए। मंदाकिनी की कंपानेवाली जलधारा में स्नान किया और एकाग्र होकर स्व-स्वरूप के चिन्तन में लीन हो गए। कुछ देर में ही सूर्य की कोमल सुनहरी तेज रश्मियों से पश्चिम-उत्तर के हिमशिखर सन्तप्त सुवर्ण की भाँति सुर्ख होकर चमकने लगे। नीलकंठ ने अन्तिम बार केदारनाथजी के दर्शन किए और देखते ही देखते विराट् हिमावली की दुर्गम वीथियों में अदृश्य हो गए।

श्रद्धालुओं की आँखों में विस्मय अभी भी बना हुआ था। कौन था वह बाल ब्रह्मचारी? स्वयं शंभु अथवा साक्षात् नारायण?...

नीलकंठ की यात्रा का सब से कठिनतम 'मार्ग' यही था! क्योंकि यहाँ कोई मार्ग ही नहीं था! ब्रह्मचारी मार्ग बनाते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। सामने चारों ओर फैला था बर्फ़ का महाविस्तार!

निसर्ग के त्रिकालाबाधित सत्य का अनुभव ही ऐसे स्थलों पर शेष स्मृति बनकर रह जाता है। प्रभु के निर्विकल्प इंगित से छलकता यह शुभ्र परिवेश, प्रकृति का यह रुद्र-करुण रूप और तनिक असावधानी के साथ

ही मौत की नींद सो जाने का कम्पन...। ब्रह्मचारी इन सब संवेदनाओं से परे अपने लक्ष्य की ओर बढ़े जा रहे थे...। लगातार। बदरी-विशाल के मन्दिर का घण्टनाद सुनाई दिया! नौ दिन बिना अन्न, बिना जल इस बटुक का शरीर कैसे टिक पाया होगा?

स्थानीय सन्तगणों के साथ मन्दिर के पुजारी को भी इस भोली-सी सूरतवाले, दिव्यता के अंबार स्वरूप छोटे से तपस्वी में इतना भावपूर्ण आकर्षण हो गया कि स्वयं बदरीविशाल के थाल को ब्रह्मचारी की सेवा में रखने लगा। प्रभु ने प्रसन्न होकर उसको आशीर्वाद दिया। इस अद्भुत, मनोरम स्थान में नीलकंठ ने हर छोटे-बड़े प्रासादिक स्थानों के दर्शन किए।

पुजारी के पूछने पर प्रभु ने उसे एक दिन कहा था, 'हम आषाढ़ शुक्ल एकादशी को सरयू पार करके अमरपुर से होकर नारदवन तक आए। हिंडौरे के उत्सव के बाद पवित्रा एकादशी हरिद्वार में की, फिर तपोवन में जन्माष्टमी को पहुँच गए। लक्ष्मणपुर होकर गणेशचतुर्थी श्रीनगर में की। फिर उद्धववन में ऋषि पंचमी के उत्सव के बाद जलझुलनी एकादशी तथा वामन द्वादशी को गुप्तकाशी पहुँचे थे। वहाँ से श्राद्धपक्ष में गुप्त प्रयाग होकर केदारनाथ में श्राद्ध पक्ष पूर्ण किया! आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को केदारनाथ से पहाड़ों के बीच होते हुए नौ दिन चलकर बदरीनाथ आ पहुँचा हूँ!'[16]

अक्तूबर की भयानक ठंड में जब कि एक भी यात्री बदरीनाथ की ओर जाने की कल्पना भी नहीं करता, उस समय बालप्रभु ने बदरीनाथ में निवास किया था।

अनन्त तपस्या के बाद जिन परमतत्त्व की प्राप्ति होती है, वही परब्रह्म आज स्वयं तपस्वी बनकर तपस्या के चरम आदर्श को सिद्ध कराने निकल पड़े थे। दीपावली और अन्नकूटोत्सव इसी तीर्थधाम में करके ब्रह्मचारी ने पुजारी से विदाई ली! हड्डियों को जमा देनेवाले इस प्रदेश में उनका मानसरोवर की यात्रा करने का मन था।

पुजारी ने इस कोमल-तनु ब्रह्मचारी को रोकने का बहुत प्रयास किया, मौत का भय बताया, तपस्या की असम्भवता का निर्देश किया, मार्ग

16. हरिचरित्रामृत सागर : २-१७।

की कठिनता का वर्णन किया और दूर तक फैले विराट् हिमशिखरों से उठते बर्फ़ के तूफानों का डर दिखाया, परन्तु उनके वात्सल्य को पीते हुए भी नीलकंठ अपने निर्णय पर अटल रहे।

उन्होंने बदरीविशाल के अनन्य तीर्थधाम को अलविदा दी, बिना नक़्शे और बिना मार्गदर्शन के इस अकेले अलौकिक यात्री ने मानसरोवर के पथ पर कदम रख दिए। भौतिक संसार मानो पीछे छूटा जा रहा था। पूरे वातावरण में एक निराली सम्मोहित करनेवाली रहस्यमयता छाई हुई थी। बादल के सुन्दर अंश राजसी वैभव से भी बढ़ते चले आ रहे थे। हर क्षण बदलता मौसम का वातावरण भयानक और बीभत्स रस को मूर्तिमंत बना रहा था। नीलकंठ अविराम चले जा रहे थे। मार्ग में यदि कोई वनस्पति, फल या फूल मिल जाते, इनसे गुजारा कर लेते। कभी-कभी दिनों तक पीने के पानी के भी लाले पड़ जाते। उन दिनों सहज ही निर्जल उपवास कर लेना, उनकी 'परमहंसवृत्ति' का अलभ्य दर्शन था।

मानसरोवर की विमुग्ध करनेवाली अपार जलराशि को देखकर प्रभु बहुत प्रसन्न हुए। स्नान करके उन्होंने अपने लोक-कल्याण के संकल्प को दोहराया, अस्ताचल की ओर सरक रहे सूर्यनारायण की किरणों से रंजित केवल बर्फ़ से ढके हुए मान्धाता पर्वत के गिरिशिखरों को वे देख रहे थे। आज मानो भगवा धारण किए संन्यासियों की भांति वे भी प्रभु के आगमन को बधाई दे रहे थे।

यहाँ से बदरीनाथ लौटकर नीलकंठ ने उन्हीं हिमाच्छादित मार्गों पर गंगोत्री का प्रवास प्रारम्भ किया, जो कि समुद्री सतह से 11,000 फुट की ऊँचाई पर है। जहाँ गंगा की महीन दुधिया धारा में स्नान करने पर दो मिनट में ही शरीर निश्चेतन पड़ जाता है।

'जहाँ जाने के पर्वतीय मार्गों पर आज भी सीधे पहाड़ों पर खड़े पेड़ की जड़ें पकड़कर चढ़ाव या उतराव पार करना पड़ता है, जहाँ इतने घने जंगल हैं कि भरी दोपहरी में भी अन्धेरा छाया रहता हैं...।'[17] परन्तु नीलकंठ के लिए सबकुछ सरल और सहज था!

केदार, बदरी और गंगोत्री के पहाड़ी मार्गों की भयानकता आज भी

17. हिमालयनां तीर्थस्थान (गुजराती) स्वामी आनन्द, पृ. ११७। (ई.स. १९३०)

वैसी ही है, जैसी दो सौ साल पहले थी!

किसी भी साहसिक को वहाँ प्रकृति की विकरालता के सामने घुटने टेक देने पड़ते हैं। स्वयं को निसर्ग के आगोश में समर्पित करके हार जाना पड़ता है। हर पल मौत का साया यात्री के सर पर मंडराता रहता है। उन घने जंगलों में भटक जाने का भय, तथा पाँव रखते ही सूखे पत्तों के ढेरों में गहराई तक चला जाता कदम, बूट-चप्पल या जूते की हालत भी कुछ ही पलों में ऐसी बना देता है कि हर एक फलाँग पर यात्रियों को अपने जूते निकाल फेंकने पड़ते हैं। कभी-कभी रीछ या अन्य हिंसक पशुओं से पाला पड़ जाता है तो भागने का मौका भी नहीं मिलता।[18]

गृह-त्याग किए नीलकंठ प्रभु को आठ मास बीत चुके थे। हिमालय यात्रा का एक दौर उन्होंने पूर्ण किया था। अब हरिद्वार से मैदानी प्रदेशों में उतरकर उन्होंने पुनः एकबार अपनी कर्मभूमि अयोध्या का रुख लिया! ई.स. 1793, मई-जून का समय था। उन्होंने देखा कि संसार उसी प्रवाह में अपने में निमग्न है। न यहाँ से कोई गया लगता है, न यहाँ किसी के आगमन का उत्सव लगता है। जिन्दगी अपनी रफ्तार में माया के प्रवाह में बही जा रही है। उन्होंने चुपके से इस नगरी से शीघ्रतापूर्वक निकल जाना ही उचित समझा। उनका ध्येय अब नेपाल की हिमश्रेणियों पर मुक्तनाथ के पुलहाश्रम की ओर था!

अनासक्ति का चरम शिखर

गाँवों और शहरों को पावन करते हुए, मुमुक्षुओं की अध्यात्म-तृष्णा को शान्त करते हुए, वे सारी रात के पैदल प्रवास के बाद एक सुबह वंशीपुर में आ पहुँचे।

गाँव के बाहर एक पीपल के नीचे ध्यान लगाए बैठे थे कि राजा अपने सैनिकों के साथ मृगया करने जाते हुए वहाँ आ पहुँचा। प्रभु की अलौकिक मूर्ति में वह इतना मुग्ध हुआ कि प्रेमापूर्वक राजमहल में नीलकंठ को पधारने का आग्रह किया। उनकी दोनों पुत्रियाँ सुशीला और ईला तो नीलकंठ की भक्ति में इस तरह लग गईं कि मानो युगों से अपने

18. उपरोक्त पुस्तक : पृ. ११८-११९।

इष्टदेव की प्रतीक्षा में हों!

राजा, रानी तथा पूरे राजपरिवार के उत्कृष्ट भक्तिभाव को परखते हुए प्रभु ने कुछ दिनों तक सदुपदेश देकर सबकी भागवत धर्म में दृढ़ता करवाई। राजा सोचता रहता कि न जाने इस ब्रह्मचारी की मूर्ति में क्या आकर्षण है कि बिना स्मरण किए ही मन उनकी मूर्ति में रमा करता है। न तो इस राजभवन के वैभव की ओर ब्रह्मचारी का मन लगता है, न ही यहाँ हमेशा के लिए ठहर जाने की इच्छा दिखती है। नीलकंठ की इस अनासक्ति से रानी का मन सुन्न रह जाता : कहीं यह ब्रह्मचारी हमें अकेले छोड़कर चले न जाएँ! उसके मन में अचानक एक विचार बिजली की भाँति कौंधा। नीलकंठ के पास आकर उन्होंने कहा, 'ब्रह्मचारीजी, यह राज्य हम आपको समर्पित करना चाहते हैं और साथ ही अपनी दोनों पुत्रियों को भी। तप करना छोड़कर इस राजवैभव का उपभोग करें!...'

नीलकंठ ने पलभर के लिए दृष्टि उठाई, इस वात्सल्यमयी माता को देखा और नेत्र मूँदकर बोल उठे, 'मैया, यह तो सम्भव नहीं है। न हम राज्य करने इस धरातल पर आए हैं, न किसी एक-दो व्यक्तियों के साथ बन्धन में जकड़ जाने के लिए, हज़ारों मुमुक्षु मेरी प्रतीक्षा में हैं। मेरा मार्ग अलग है।'

'क्यों अलग-थलग की बातें करते हैं नीलकंठ! अभी तो छोटी उम्र है, जब युवा अवस्था का उन्माद चढ़ेगा, तब पता चलेगा कि बिना स्त्री और बिना धन कैसे जिया जा सकता है!' रानी स्नेहवश नीलकंठ को डपट रही थी।

ब्रह्मचारी केवल मुस्कुराए। माया के जीव माया की ओर ही खींचने का प्रयास करेंगे। उन्होंने सोच लिया कि अब यहाँ से प्रस्थान करने का समय आ चुका है...। दूसरे दिन प्रातःकाल राजपरिवार और राज्य को सोते हुए छोड़कर वे नेपाल की ओर चल निकले।

दो कन्याओं का वरण और राज्य सत्ता की चकाचौंध उनकी आँखों के आगे कूडे के ढेर से अधिक नहीं थी! सर्प जिस सरलता से अपनी पुरानी केचुल को छोड़ देता है, नीलकंठ ने उसी प्रकार राजवैभव को ठुकरा दिया।

पुलहाश्रम में तपश्चर्या

नीलकंठ लगातार उस ओर चले जा रहे हैं, जहाँ पुनः एकबार बर्फ़ की आँधियों का सामना करना था। अभी उम्र के चौदहवें साल के पड़ाव को उन्होंने पार नहीं किया, किन्तु विराट् पहाड़ों और घने जंगलों को पार करने की उनकी ललक देखते ही बनती थी। हिमाचल के दूसरे छोर पर आकर उन्होंने आषाढ़-श्रावण की बरसती झड़ियों में कालेगिरि के मार्ग से मुक्तनाथ की राह पकड़ ली।

घर से निकले एक वर्ष तैतालीस दिन बीत चुके थे। कृष्णाष्टमी की रात बीती जा रही थी। चारों ओर फैली निस्तब्धता में शून्य का-सा आभास हो रहा था। प्रातःकाल होते ही नीलकंठ ने कालेगिरि के पहाड़ की सरकती पगडंडियों पर चलना प्रारम्भ कर दिया। ऊपर हरियाली के सैकड़ों-हज़ारों रूप प्रदर्शित करते शैल-शिखर और बीच से गुजरती महीन काली गंडकी में मिलते पहाड़ी झरने। आगे चलकर काली गंडकी का प्रवाह उद्दाम बन जाता है।

नीलकंठ ने सोचा कि इसी नदी के किनारे-किनारे चलकर मुक्तनाथ पहुँचा जा सकता है, अतः गहराई तक उतरती खाईयों में उतरना ही उचित होगा। वे किनारों पर उतरते सीधे ढलानों से गंडकी की ओर बढ़ने लगे। पाँव के तनिक फिसलने से ही अन्तहीन बीहड़ों के भीषण अन्धकार में विलीन हो जाने का भय सिर पर लटकता रहता। हज़ारों फीट ऊँचे शिखरों से धँसती विराट शिलाओं का शीघ्रवेगी स्खलन भयानक गड़गडाहट उत्पन्न करता। गेंडे या जंगली भैंस के चीत्कारों से वातावरण की भयानकता सदा-सर्वदा बनी रहती, किन्तु भय नाम की चीज़ नीलकंठ जन्म से ही शायद पी गए थे। रिरीविझोर से बालेवा होते हुए नीलकंठ ने गंडकी में पहला कदम रखा तो आनन्द से पुलकित हो गए। आज वे दो विराट्-पहाड़ों-अन्नपूर्णा और धवलगिरि की विश्व की सबसे गहरी खाई में खड़े थे। दोनों ओर 23,000 फीट से अधिक ऊँचाई वाले पर्वत अपने आगोश में परमात्मा को समाए हुए हर्षोन्मत्त हो रहे थे।

आगे चलकर गंडकी का प्रवाह एक विकराल गुफा से बहता महानद

की भाँति गर्जना कर रहा था। नीलकंठ ने चलने का कोई रास्ता नहीं देखा तो उसी भयंकर महानद में कूद गए। सारी सृष्टि इस तपस्वी के साहस पर हाहाकार मचाने लगी। कुछ ही समय के बाद वे गुफा से गिरते प्रपात के साथ नीचे की ओर गिरे। पानी के प्रवाह में अपने शरीर को शिथिल छोड़ दिया। उत्तर की ओर बहते प्रवाह में मुक्तनाथ का पथ उनको दृष्टिगोचर हो गया।

थोरांग पर्वत का 21,273 फीट ऊँचा गर्वोन्नत मस्तक सुवर्ण मंडित किए मुकुट की भांति चमक रहा था। उसी की खाईं में 12,500 फीट की ऊँचाई पर मुक्तनाथ के मन्दिर को प्रभु ने पावन किया!

13 वर्ष की बाल्यावस्था, कृश-कोमल शरीर, कौपीन के सिवा एक वस्त्र भी पास में नहीं। तीर की भांति हड्डियों को तोड़ देनेवाली तेज़ सर्द हवा के कारण शरीर काँप रहा था, पीने के लिए पानी और खाने के लिए फल का प्रबन्ध भी बड़ी मुश्किल से हो रहा था, ऐसे समय पर भरतजी की तपोभूमि के प्राचीन स्थल पर नीलकंठ ने दो मास-बीस दिन तक एक पैर पर खड़े रहकर दोनों हाथ ऊपर उठाए, नेत्र मूँद कर गायत्री मन्त्र द्वारा सूर्योपासना प्रारम्भ कर दी। कभी सामवेद के मन्त्रों का जाप करते, तो कभी केवल स्व-रूप के चिन्तन में मग्न रहते। गंडकी-स्नान के बाद वृक्षों से झड़े हुए फल से गुजारा कर लेते तो कभी चुल्लूभर पानी से ही पूरा दिन गुजारते रहते। इस भीषण तपस्या को देखकर ऋषिगण तथा सन्तगण स्तंभित और विचलित रह जाते।

इस अनन्य तपश्चर्या ने सूर्यनारायण को दर्शन देने के लिए बाध्य कर दिया। प्रभु ने उनसे प्रार्थना की तथा सूर्यदेवता ने भी नीलकंठ से आशीर्वाद ग्रहण किया।

इतनी-सी उम्र में इतना भीषण तप ऐसे कलिकाल में अद्‌भुत है, अनन्य है, प्रेरक है तथा अलौकिक है जो युगों तक अध्यात्म-यात्रियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

❖ ❖ ❖

नीलकंठ का हिमालय-यात्रा का उद्देश्य पूर्ण हुआ था। अब मुक्तनाथ से उतरकर नेपाल की भूमि के पहाड़ी इलाकों से गुजरते हुए महाप्रभु

नीलकंठ ने भीषण जंगलों में प्रवेश किया, जहाँ दिन का उजाला पलभर के लिए भी प्रविष्ट नहीं हो पा रहा था, ऐसे भयानक स्थान से नीलकंठ नेपाल के बुटोलनगर की ओर शीघ्रता से चले जा रहे थे।

नेपाल ई.स. 1750 के बाद छोटी-छोटी कई रियासतों में विभक्त हो गया था।[19] बुटोलनगर ऐसी ही एक रियासत थी, जिस पर महादत्त सेन राज्य कर रहा था। नीलकंठ ने इस शूरवीर राजा को आत्मज्ञान का सद्बोध देकर कृतार्थ किया और पाँच माह तक निवास करके पूरे राजपरिवार पर अपार कृपावर्षा की।

एक रात वे राज्य और राजपरिवार को छोड़कर पोखरा की ओर जानेवाले वन-जंगल के विकट पथ पर चल दिए। इसी वन में गोपालयोगी नामक अष्टांग योगी से उनकी भेंट हुई। नीलकंठ ने इस योगी के पास रहकर केवल एक वर्ष में अष्टांगयोग की कठिनतम साधना सिद्ध कर ली। नेति, बस्ति, कंजरी, नौलिका, शंख प्रक्षालन, धौति, त्राटक आदि हठयोग की क्रियाओं के साथ ब्रह्मचारी ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान की क्रियाओं में ऐसी क्षमता प्राप्त की कि गोपालयोगी ऐसा अनुपम शिष्य पाकर स्वयं को धन्य समझने लगे! अपनी विद्या की सार्थकता तो उन्होंने तब पाई जब नीलकंठ ने उन्हें शुद्ध ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया और उनकी आत्मस्वरूप में स्थिति कराते हुए स्व-स्वरूप का साक्षात्कार कराया!

गोपालयोगी को मुक्ति प्रदान करके उन्होंने हिमालय की पूर्वोत्तर सीमा की तलहटी के प्रदेशों में प्रवेश किया। अनेक गाँवों-शहरों को पावन करते हुए सिरपुर और परशुराम कुण्ड पधारे, जो कि आज ब्रह्मपुत्र में विलुप्त हो चुका है!

पिबैक का परिवर्तन

नीलकंठ का आगमन सन् 1797 के कार्तिक मास में असम के सीमावर्ती मातृतीर्थ कामाक्षी में हुआ! विषय और व्यसन के साथ-साथ इस प्रदेश की प्रजा वहम के शिकंजे में पिसी जा रही थी। मांत्रिक-तांत्रिकों के

19. नेपाल और ईस्टइन्डिया कंपनी, पृ. ५३ : लेखक : सन्वाल।

पाखण्ड के कारण सज्जनों तथा साधुओं को हमेशा के लिए उपेक्षा और तिरस्कार का पात्र बनना पड़ता था। यहाँ का प्रसिद्ध तांत्रिक पिबैक सबसे अधिक भयावह अभिचार प्रयोग करने के कारण सन्तों के लिए काल बना हुआ था। स्वयं को काली-उपासक बताकर शराब के नशे में धुत्त रहना, मांसाहार करके श्मशानों में भटकते हुए कुछ न कुछ मैली विद्या के चक्कर में रात की रात गुजार देना उसका नित्यकर्म था।

गले में मानव-खोपड़ी की माला, भाल पर लालसुर्ख तिलक, हाथ में विकराल त्रिशूल और सिर पर रही चोटी को फटकारता हुआ वह पूरे गाँव में मदोन्मत्त हाथी की भांति घूमता रहता।

जहाँ भी साधु-सन्त-यति-योगियों को देख लिया तो अपने शिष्यों के साथ वहाँ आकर वह कहर बनकर टूट पड़ता। भोले-भाले लोगों की वैष्णवी कंठी तोड़ देना, मार-पीट और गाली-गलौज़ करके भूत-भैरव के पास घुटने टिकवाना उसका राक्षसी आनन्द था। पूरा कामाक्षी इस तांत्रिक के डर से काँपता रहता। लोग इस जिन्दा पिशाच से मुक्ति पाने के लिए तड़प रहे थे और आज उनकी प्रार्थना प्रभु ने सुन ली थी!

वे गाँव के बाहर फुलवाड़ी में ठहरे थे। अनेक सन्तों-भक्तों ने भी यहीं पड़ाव डाला था। अभी ब्रह्मचारी को ध्यानस्थ हुए कुछ ही पल बीते थे कि चिल्लाते हुए अर्धनग्न स्त्री-पुरुषों ने शोर मचाते हुए प्रवेश किया। साधु सब समझ गए कि पिबैक नाम का महाकाल आ चुका है। वे मारे भय के पत्ते की भाँति काँपने लगे। जब शोर अधिक हुआ तो नीलकंठ ने आँखें खोल दीं। उन्होंने विस्मयजनक दृश्य देखा! अट्टहास से धरती कँपानेवाले पिबैक की शरण में जाकर वैष्णव साधु रक्षा के लिए गिड़गिड़ाते थे!

नीलकंठ ने अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही ललकारा, 'सबूर! साधुओ! परमात्मा के सिवा किसी की शरण में जाने की किसी को भी आवश्यकता नहीं होती। कोई भी शक्ति परमात्मा की शक्ति के आगे धूल के कण के बराबर भी नहीं है। अतः इस तांत्रिक से डरो मत। अपने धर्म को निभाए रखने की निश्चलता रखो।'

पिबैक की आँखें अंगारे बरसाने लगीं, 'अभी दिखलाता हूँ अपनी ताक़त

का चमत्कार, बच्चे! देख!' उसने हरे-भरे वृक्ष पर अभिचार किया ही था कि उसके पत्ते-पत्ते सूखकर गिर पड़े। साधुओं की दशा शिकारी के हाथों में छटपटा रहे परिन्दे-सी हो रही थी। वे तुरन्त गले में हाथ डालकर अपने इष्टदेव की शरणागति के प्रतीक के समान कंठी तोड़ने का प्रयास करने लगे।

नीलकंठ ने पुन: उनको रोक दिया, 'मरना एक बार होता है, साधुजनो! शुद्ध सम्प्रदाय की शरणागति के प्रतीक के समान तिलक मिटाने में या कंठी तोड़ने में तुम्हारा श्रेय नहीं है। यह अध:पात ही है। मैं पिबैक को चुनौती देता हूँ, अगर उसमें मेरा कुछ भी बिगाड़ने का साहस हो तो कर दिखाए! फिर वह, तुम पर प्रयोग करेगा।' ब्रह्मचारी के एक-एक शब्द में शान्ति के साथ निश्चलता की खनक थी। पिबैक का लक्ष्य अब यह एक मासूम-सा बच्चा ही रह गया था।

उसने भीषण नादोच्चार से अभिचार का प्रारम्भ किया। बार-बार प्रयत्न करने पर भी वह निष्फल होता रहा और आखिर अपनी तन्त्रविद्या का अन्तिम प्रयोग करके उसने भयानक कालभैरव और बटुकवीर को निमंत्रित किया। नीलकंठ को देखते ही वे वापस लौटे और अपने ही मन्त्रवक्ता पिबैक की ओर झपट पड़े। भैरव के त्रिशूल से हुए घाव से पिबैक के मुख से रक्त की धारा बहने लगी। उसे, दोनों के शब्द गर्जना की भांति सुनाई देने लगे, 'हमारे देवाधिदेव के उपर प्रयोग करके तू हम से और भी अधिक पाप करवाना चाहता है? आज तो तेरी ऐसी बुरी गत बनाएँगे कि तू जीवन भर तड़पता रह जाएगा।'

यह सुनते ही पिबैक का रोम रोम कांपने लगा। उसने गिड़गिड़ाते हुए क्षमा-याचना की। आखिर किसी अदृश्य मार से वह बेहोश होकर गिर गया। उसके सम्बन्धीजनों ने बारबार नीलकंठ प्रभु से प्रार्थना की आखिर प्रभु ने उसे भयानक कष्ट से मुक्त कराया, शुद्ध सत्त्वगुणी साधना के लिए आदेश दिया। निर्व्यसनी जीवन का शपथ देते हुए नीलकंठ ने इसे वैष्णवी दीक्षा प्राप्त कराई।

इस प्रसंग के साथ ही अन्ध श्रद्धा और वहमों के चंगुल से मुक्त, भगवन्निष्ठ समाज के निर्माता नीलकंठ महाप्रभु ने सज्जनों तथा सन्तों के सुख के लिए इस गाँव में हमेशा के लिए आनन्द की धारा प्रवाहित कर दी थी!

अहिंसा के पुजारी

असम के घने जंगलों की नयनाभिराम सुन्दरता दूर तक फैली हुई दिख रही थी। चारों ओर हरियाली और वृक्षों से हरे-भरे शैलशिखर परमात्मा की कला के अद्‌भुत नज़ारे बिखेर रहे थे। जंगली हाथियों की भयानक चिंघाड़ हृदय को कंपानेवाली थी, चीत्तों की गर्जना, हिरनों की भागदौड़ सब कुछ जंगल के नियतक्रम के अनुसार जारी था। किन्तु नीलकंठ स्व-स्वरूप में स्थिर और अन्य तमाम घटनाओं से बे-सुध अलिप्त से दक्षिण की ओर चले जा रहे थे। उनके क़दमों में जगन्नाथपुरी पहुँचने की जल्दी दिखाई दे रही थी।

बालवाकुण्ड, गंगासागर होकर नीलकंठ ने सुन्दरवन स्थित कपिलाश्रम को पावन किया। आखिर बंगाल के प्रसिद्ध तीर्थधाम जगन्नाथजी मन्दिर पर फहरा रही पताका देखकर नीलकंठ भक्तिभाव से पुलकित हो उठे। यहाँ उन्होंने प्रसिद्ध इन्द्रद्युम्न सरोवर के किनारे घने वृक्षों की छाँव में अनेक वैरागियों के साथ ही पड़ाव डाल दिया। प्रतिदिन मन्दिर के दर्शन, भिक्षाटन और सरोवर के किनारे पर बैठकर घंटों तक स्व-स्वरूप में लीन रहना, उनका नित्यक्रम था। मन्दिर दर्शन करने जाते, तब गरुड़ स्तंभ के पास खड़े रहकर लगातार घंटों तक ठाकुरजी की मूर्तियों को निहारते रहते। बालप्रभु की तेजस्विता और अलौकिक व्यक्तित्व को देखते ही अनेक मुमुक्षुओं को अपार शान्ति की अनुभूति होती, कभी-कभी नीलकंठ भी इन मुमुक्षुओं को ब्रह्मज्ञान के विषय में भक्ति की रीति एवं मनुष्य देह की सार्थकता के विषय में उपदेश करके उनको कृतार्थ करते।

पुरी के राजा मुकुन्द देव के कानों तक इस छोटे से ब्रह्मचारी के महान् प्रभाव का समाचार पहुँच गया था। उनके आमन्त्रण पर नीलकंठ ने उनका महालय पावन किया। ब्रह्मचारी की अपार कृपा से राजा को उनके स्वरूप में स्वयं पुरुषोत्तमनारायण के दर्शन हो गए। राजा इस बाल ब्रह्मचारी का इतना सम्मान क्यों करते हैं, यह जड़मति नागड़ा बाबाओं की समझ में आनेवाली बात नहीं थी। केवल तेजोद्वेष के कारण कुछ तांत्रिकों ने कोहराम मचा दिया।

स्त्री-लंपट, व्यभिचारी, शराब के नशे में धुत्त रहनेवाली इस जमात का उपद्रव पूरे इलाके में घुन की भाँति फैला हुआ था। ये लोग समाज के वटवृक्ष को अपनी 'कुतरन' से धराशायी करने पर तुले थे। बर्छी, बंदूक, तलवार या त्रिशूल लेकर घूमना उनका शौक़ था, तथा इन शस्त्रों के उपयोग के लिए हर पल आतुर रहना उनकी प्रकृति थी।[20]

इन क्रूर वैरागियों ने नीलकंठ को भी सबक सिखाने की योजना बनाई। पुरी में आषाढ़ी द्वितीया की रथयात्रा की तैयारियाँ ज़ोरों से चल रही थी। सन् 1798 का वर्ष था। पन्द्रह साल की उम्र में नीलकंठ ने आधे भारत की यात्रा प्रायः समाप्त कर ली थी। रथयात्रा उत्सव तो शान्ति से बीत गया, लेकिन नीलकंठ तो महीनों से देखते चले आए थे कि भेखधारियों का त्रास अनन्य है। एक दिन इन भेखधारियों ने नीलकंठ को भी झपट में ले लिया, 'अबे ए बच्चे! खेत में से चौलाई की सब्जी तोड़ के ला!' एक मुखिया ने आकर नीलकंठ पर रोब जमाया।

नीलकंठ प्रभु बस उसे एकटक देखते ही रहे। जब वह दूसरी बार चिल्लाया तब नीलकंठ ने कहा, 'हम हरी सब्जी नहीं तोड़ेंगे!'

'क्यों नहीं तोड़ेगा तू! क्या अपनी टांगें तुड़वाना चाहता है?'

'मैं नहीं तोड़ूँगा क्योंकि उसमें जीव है। किसी की ठोकर से तुम दुःखी होते हो, ठीक उसी तरह हमारी या तुम्हारी ठोकर से सब्जी भी दुःखी हो जाती है।'

अब तो उस मुखिया की आँखों से चिनगारियाँ फूँटने लगीं, 'तू कैसे नहीं तोड़ेगा, यह मैं देख लेता हूँ!' उसने अपने साथियों को नीलकंठ पर धावा बोलने को ललकारा। एक दूसरी टोली वहीं पर 'तमाशा' देख रही थी। न जाने क्या हुआ, वे लोग नीलकंठ के पक्ष में बोलने लगे! बस, बहस छिड़ गई, परिणाम तो बुरा होना ही था, परन्तु नीलकंठ अपने स्थान से उठकर कहीं दूर चले गए। असत्य के आगे कभी झुकना नहीं चाहिए, इस सनातन

---

20. कथित संन्यासियों की टोलियों ने इस प्रदेश में भारी जुल्म ढाया था। धर्मयात्रा के बहाने वे बंगाल के प्रदेशों में घूमते, भीख माँगते, चोरी या लूट भी चलाते। (Sannyasi and Fakir Raiders in Bengal : P. 1. Jamini Mohan Ghosh : AD v||x)

मूल्य का पाठ ब्रह्मचारी ने पूरे मुमुक्षु समाज को सिखाया। निर्जीव सी दिखनेवाली वनस्पतियों में भी चैतन्य के प्रवाह को देखने की उनकी करुणादृष्टि अपने आप में विलक्षण थी। 'वनस्पतियों में भी जीव है।' ऐसा तथ्य विश्व में सर्वप्रथम बिना किसी प्रयोग या वैज्ञानिक पढ़ाई यदि किसी भी व्यक्ति के मुख से इतना स्पष्ट रूप से निकला है, तो वह थे नीलकंठ।

धर्म की जय हुई है, यह देखकर नीलकंठ ने अपने उद्देश्य को पूर्ण किया और वे मानसपुर तथा अन्य दक्षिण के तीर्थों को तीर्थत्व प्रदान करते हुए, अनेक कष्टों का सामना करते हुए वेंकटाद्रि के जंगलों में पहुँच गए।

सेवक धर्म के आदर्श

तिरुपति बालाजी की यात्रा उनका लक्ष्य था, अतः गहन वन में मन ही मन दिशा निश्चित करते हुए वे कांचीपुरम् के मार्ग पर चलने लगे।

उत्तर प्रदेश की भयावह झाड़ियों के बजाये अब दक्षिण का सुरम्य प्रदेश दृष्टिगोचर हो रहा था। कभी कभार फ़लों की वाड़ियाँ देखने को मिल जाती तो गाँव के समीप ही कोई छोटा-सा उपवन भी मिल जाता।

ऐसे ही एक उपवन में उन्होंने एक अत्यंत बेहाल और दुर्बलता की मूर्ति के समान साधु को पीड़ा और बीमारी से कराहते हुए देखा। खूनी दस्तों के कारण उसकी स्थिति मृत:प्राय हो चुकी थी। नीलकंठ की आँखों से अश्रु धारा बहने लगी। दौड़कर वे साधु के पास पहुँचे। धीरे से सिर पर हाथ रखा, साधु ने आँखें खोलीं तो एक तेजस्वी बाल-ब्रह्मचारी को अपने समीप पाया। उसके थके हुए चेहरे पर मुस्कान बिखर गई। नीलकंठ ने उसका परिचय पाया कि वह तो श्रीमद्‌भागवत पुराण का कथाकार है, उसका सेवकराम नाम है, उत्तर भारत का ही निवासी है लेकिन तिरुपति की यात्रा से पहले ही बीमारी का शिकार हो गया है।

नीलकंठ ने इस साधु की सेवा का मानो व्रत ही ले लिया। सुबह से शाम तक, रात से प्रात:काल तक वे दासत्व की प्रतिमा बनकर इस साधु की सेवा करते रहे।

सबसे पहले समीप में खड़े विशाल वटवृक्ष के तले नीलकंठ ने केले के पत्तों को सजाकर एक हाथ ऊँची शय्या बिछा दी और सेवकराम को

आराम से सुलाया। कोई औषध-मूल के प्रयोग करने में और प्रतिदिन खूनी दस्त से सने हुए कपड़े धोने में उनका उत्साह अद्वितीय रहता। जब वह धीरे-धीरे ठीक होने लगा तो भूख के कारण बिलबिलाने लगा। नीलकंठ अब तक तो फल-फूल से दोनों का गुजारा कर लेते, लेकिन जब सेवकराम स्वस्थ हुआ तो उसने अपना वह बटुआ खोल दिया जिसमें एक हज़ार सुवर्णमुद्राएँ रखी हुई थीं। वह, ब्रह्मचारी को लगभग आठ मील की दूरी पर बसे एक गाँव से दाल, चावल, गेहूँ का आटा, गुड़ तथा घी आदि खरीदने के लिए भेजता। ब्रह्मचारी सब कुछ खरीदते, सेवकराम को बड़े स्नेह से भोजन बना देते, जब वह खा लेता तो ब्रह्मचारी को पुनः गाँव में जाकर भिक्षा माँगनी पड़ती थी! या फिर उपवास अथवा वन के फल से भूख का शमन करना पड़ता। कैसी संवेदन-हीनता थी कि उस स्वार्थी साधु ने कभी नीलकंठ को इतनी सेवा के बावजूद इतना भी नहीं कहा : 'ब्रह्मचारी, तुम भी मेरे साथ इसी सामग्री से भोजन कर लिया करो!' और नीलकंठ ने भी ऐसे व्यक्ति के धन से भोजन की अपेक्षा रखना बन्द कर दिया था।

जब वह अच्छा-खासा आहार लेने लगा, सेर-भर घी पीकर पचाने लगा, तब ब्रह्मचारी ने सोचा कि सेवकधर्म मुझे यहाँ समाप्त करना चाहिए। अब यह साधु भला-चंगा हो चुका है। नीलकंठ ने दो मास तक इस साधु की लगातार सेवा करके उसका संग भी छोड़ दिया।

गहन वन में बिना किसी सुविधा, बिना औषध, बिना धन केवल दया-धर्म और परोपकार की भावना से ऐसे स्वार्थी तथा अनजान साधु की दो-दो माह तक सेवा करना, हमें संकेट करता है कि जब पन्द्रह वर्ष की उम्र में लड़का स्वकेन्द्रिता के चरमोत्कर्ष पर होता है, उसे अपने शौक या अपनी मनमानी पूरी करने में दूसरों की पीड़ा से कोई मतलब नहीं होता, उस उम्र में ब्रह्मचारी ने सेवाधर्म की परम्परा का आदर्श इसी प्रसंग से स्थापित कर दिया। अब वे तिरुपति व्यंकटेश भगवान के दर्शन के लिए एकाकी ही निकल पड़े।

त्यागधर्म के शिक्षक

दक्षिण भारत के प्रायः सभी जाने-माने तीर्थों के दर्शन के बाद उन्होंने

तोताद्रि में रामानुजाचार्यजी की व्यासपीठ के दर्शन भी किए।

रामानुज तत्त्वदर्शन की सरलता, इस सम्प्रदाय के भक्तिविधान तथा उपासना रीति नीलकंठ को रुचिकर प्रतीत हुई।

हाँ, एक बात की खटक उनको तभी लगी जब त्यागियों को स्त्रियों के साथ व्यवहार करते हुए देखा। उन्हें त्यागियों की रीति शोभास्पद नहीं लगी।

उन्होंने जियर स्वामी से पूछ भी लिया, 'महात्मन्, त्यागियों के लिए तो शास्त्रों में धन तथा स्त्री दोनों के संसर्ग को निषिद्ध गिना है, यहाँ धन-त्याग तो मैं देख रहा हूँ, फिर स्त्री-संसर्ग के नियम में इतनी शिथिलता क्यों है? मेरे अनुभव से तो ब्रह्मा तक इन बन्धनों से मुक्त नहीं रह पाए तो इन त्यागियों की तथा स्त्रियों की सुरक्षा का कवच कैसे टिक पाएगा?'

बस, प्रश्न सुना ही था कि उस प्रमुख सन्त के तेवर बदल गए, 'कौन हो तुम? जो इतनी धृष्टता कर रहे हो? हमें त्यागी के धर्म सिखाकर क्या तू ब्रह्माण्ड को ललकारने का प्रयास कर रहा है?'

नीलकंठ इस क्रोध के समक्ष मौन ही रहे। उस महात्मा को नीलकंठ के मौन में और भी धृष्टता दिखाई दी। उन्होंने बिना जान-पहचान या नीलकंठ के स्वरूप का परिचय किए बिना ही उनको मन्दिर से बाहर निकलवा दिया।

फिर भी नीलकंठ ने जाते-जाते उन्हें शान्त रहने, क्रोध न करने का सद्बोध दिया।

स्त्री-धन के त्यागियों की परम्परा की स्थापना करने का ध्येय उनके मन में उस समय भी था, जब वे केवल पन्द्रह वर्ष के छोटे-से किशोर थे!

नीलकंठ का गुजरात-प्रवेश

समय बीता जा रहा था, नीलकंठ सोचते थे, अब मुझे जल्दी से अपने लक्ष्यस्थान पर पहुँचकर हज़ारों मुमुक्षुओं की अध्यात्म-तृषा को शान्त करना चाहिए।

अब रामानुजाचार्यजी के जन्मक्षेत्र श्रीरंगम् में दो मास तक ठहरकर उन्होंने विशिष्टाद्वैत मत का गहन अध्ययन किया, मुमुक्षुओं को धर्मलाभ देकर महाराष्ट्र होते हुए अपनी कर्मभूमि गुजरात में प्रवेश किया।

सूरत से उनकी गुजरात-यात्रा का आरम्भ हुआ था, किन्तु बड़ौदा में अमीचन्द वणिक् की पत्नी की अविद्या मिटाकर उन्होंने अपना वह विरुद सार्थक करना शुरु कर दिया, 'आज तो मैं अविद्यारूप जो माया है, तिसके नाश के वास्ते प्रकट हुआ हूँ..., ज्यों वेदों का वचन, ज्यों अविद्याकुं नाश करो, ऐसी जो मेरी स्तुति किया है, सो वचन कुं आज मं सत्य करता हूँ।'[21]

गाँव और नगर में नीलकंठ के प्रवेश करते ही मानो दिव्यता की लहर दौड़ जाती। लोग इस तेजस्वी ब्रह्मचारी की सेवा करने के लिए लालायित रहने लगे परंतु नीलकंठ को कहीं भी रुकना नहीं था। आखिर वे सौराष्ट्र के उस धर्ममय प्रान्त में आ पहुँचे जहाँ मानव के हृदय में श्रद्धा सदैव डेरा जमाए बैठी थी। जहाँ मोक्ष की तड़प थी किन्तु अज्ञानता का अभिशाप भी लगा था। जहाँ धर्म के आचरण का आग्रह कम था, मनौती का आग्रह ज्यादा। जहाँ आत्मज्ञान का सौरभ व्यवहार तक नहीं, वाणी तक ही सीमित रह गया था।

नीलकंठ जूनागढ़ जिले में लोढ़वा गाँव में लखुबाई चारण के घर आ पहुँचे। सौराष्ट्र के तत्कालीन प्रसिद्ध सन्त स्वामी आत्मानन्दजी से उसने आत्मज्ञान का अभ्यास किया था। साधु-सन्तों की सदाव्रतादि से सेवा करना उसका नित्यकर्म था। लेकिन वे नीलकंठ को 'कोई और' के दायरे में नहीं गिनती थी। उसने बड़े प्यार से अपने पुत्र की भाँति नीलकंठ की सेवा शुरु की। तीन माह तक प्रभु यहीं रुके। इस स्त्री के तत्त्वज्ञान सम्बंधी गलत विचारों को मिटाकर प्रभु ने उसे ब्रह्मपथ पर स्थापित करना चाहा। उसकी भक्ति देखकर एकबार नीलकंठ ने प्रसन्न होकर उसे वरदान माँगने को कहा! उसने माँगा : 'मेरा बेटा वीराजी और मेरी साठ भैंसें अमर रहें।'

नीलकंठ इस स्त्री के 'आत्मज्ञान' पर मुस्कुराने लगे। उन्होंने बड़ी मेहनत के बाद आत्मज्ञान की यथार्थ व्याख्या समझाई तथा स्वयं वरदान दिया : 'मैं तुम्हें और तुम्हारे बेटे को ब्रह्मधाम का सुख देता हूँ।'

इस स्त्री को ही नहीं, विश्व में अनन्त मुमुक्षुओं को सच्चे अर्थ में

---

21. श्रीजीना प्रासादिक पत्रो (गुजराती) : सं. माधवलाल दालसुखराम कोठारी : पत्र क्रम : ५१ (ये श्रीहरि के पत्रों की भूल भाषा है, अतः प्रासादिक जानकर यथावत लिखी गई है)

आत्मज्ञान की जिज्ञासा थी, किन्तु उनका मार्गदर्शन करनेवाले अनुभवी महात्माओं की कमी थी, प्रभु ने इस कमी को मिटाने का कार्य गुजरात में आते ही कर दिया था।

कल्याण यात्रा पर अल्पविराम

जब वे लोढ़वा से निकलकर पीपलाणा (जि. जूनागढ़) आए, तब नरसिंह मेहता के मुख से उन्होंने एक बड़े सन्त का नाम सुना, 'स्वामी रामानन्द!' और आश्रम का स्थान सुना, 'गाँव लोज!' नीलकंठ यह नाम सुनते ही पुलकित हो उठे। उन्होंने समुद्र किनारे के माँगरोल गाँव होते हुए रात्रि के समय गाँव लोज में प्रवेश किया।

पूरा गाँव नींद में डूबा था, इस पवित्र गाँव की सीमा पर सुन्दर बावडी के बाहर पीपल के वृक्ष तले ब्रह्मचारी पद्मासन में ध्यानस्थ बैठकर आत्मलीन थे।

प्रात:काल का प्रकाश धीरे-धीरे फैलने लगा था। श्रावण माह के बारिश के दिन चल रहे थे, हल्की सी बूँदाबाँदी, भीगी हुई धरती की महक, परिन्दों की कलरव ध्वनि बावड़ी में पानी भरने आईं हुईं स्त्रियों के बर्तनों की खनक, खेत की ओर जाते किसानों के बैलों के गले में बज रही घंटियाँ। इस पूरे वातावरण से अनजान, एक मासूम सा तेजस्वी कुमार गाँव की नारियों के लिए एक आनन्दाश्चर्य बन गया है। कौन होगा यह? कहाँ से आया होगा? माँ-बाप से बिछड़ते हुए माँ-बाप ने तो मानो प्राण ही त्याग दिए होंगे। ऐसी बातें प्राय: होती रहीं। प्रभात का समय था, स्वामी रामानन्द के आश्रम के सुखानन्द नामक सन्त ने नीलकंठ को देखा और देखते ही दिग्मूढ़ हो गए। कुछ ही पलों में नीलकंठ ने नेत्र खोले तो दिव्य करुणा का अथाह सागर उमड़ पड़ा! सुखानन्दजी ने प्रणाम करके परिचय पूछा। नीलकंठ ने मंद स्मित के साथ इतना ही कहा, 'साधुराम, न त्यागी की जात होती है न पात। न देश होता है, न स्वजन। मैं तो समझता हूँ कि जो भव-बन्धन से मुक्त करें, वही सच्चे माता-पिता हैं, वही उत्तम गुरु है! मैं ऐसे गुरु की खोज में निकला हूँ!'

सुखानन्द आश्चर्य चकित रह गए। आश्रम में पधारने का उन्होंने निमन्त्रण

दिया और नीलकंठ ने उठकर अपने कदम आश्रम की ओर बढ़ा दिए।

आज इस विरल परिव्राजक की कल्याण-यात्रा पर अल्पविराम लगनेवाला था। दिन था : आषाढ़ी संवत् 1856 श्रावण माह के कृष्ण पक्ष की षष्ठी का,[22] सहस्त्रों मुमुक्षुओं के भक्तिभाव से परिप्लावित इस भूमि की पुकार को उन्होंने सुन लिया था।

अयोध्या की उस आषाढ़ी रात्रि से प्रारम्भ हुई यात्रा श्रावण की इस प्रात:काल समाप्त हुई। इस बीच 7 वर्ष, 1 माह, 11 दिन बीत चुके थे। ग्यारह वर्ष का सुकोमल बालक घनश्याम अब अठारहवें वर्ष में नीलकंठ के रूप में भारतवर्ष की अध्यात्म-विरासत के तेज:पुंज की भांति देदीप्यमान हो रहे थे।

ऐसी किशोरावस्था में नीलकंठ के व्यक्तित्व में साहस, निर्भयता, वैराग्य, सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, आचार-शून्य समाज में कर्मण्यता और संयम का चैतन्य संचार करने की दक्षता, सत्यनिष्ठा में पहाड़-सी निश्चलता आदि का अद्भुत समन्वय हो गया था। लगभग 13 हज़ार कि.मी. की पैदल यात्रा उन्होंने नंगे पाँव, मात्र एक-वस्त्र तथा एकाकी रहकर पूर्ण की। इन 2,562 दिनों के सुदीर्घ प्रवास में उन्होंने भारत, चीन, नेपाल, बांग्लादेश, भूटान और बर्मा तक के 7 देशों में विचरण किया, भारत के 14 राज्यों के 170 गाँवों-शहरों के साथ समुद्री सतह से लेकर मानसरोवर-सी ऊँचाईयाँ उन्होंने बिना भूले तय की। ऐसे नीलकंठ आज वन-पर्वतों की तपोभूमि से गुजरात की कर्मभूमि में प्रविष्ट हो चुके थे। जहाँ से उनको लाखों अध्यात्म-यात्रियों को 'अक्षरधाम' के पथ पर अग्रगामी बनाना था। धन्य है यह विरल परिव्राजक।

---

22. दिनांक : २१.८.१७९९, शुक्रवार।



स्वामिनारायण महामंत्र के प्रादुर्भाव के समय स्वामीश्री सहजानंदजी महाराज अर्थात् भगवान स्वामिनारायण

४

लोज निवास तथा धर्मधुराधारण

आश्रम में नीलकंठ ने प्रवेश किया, मानो दिव्यता की लहर दौड़ गई। आश्रम के मुख्य सन्त स्वामी मुक्तानन्दजी इस अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न ब्रह्मचारी को देखते ही आकृष्ट हो गए। स्वामी सुखानन्दजी जब नीलकंठ के लिए आसन खोजने लगे तो भूमि पर बैठते हुए नीलकंठ ने कहा था, 'पचास कोटि योजन पृथ्वी के समान विराट् आसन के होते हुए अन्य आसन की क्या आवश्यकता है? धरती हमारा आसन है और आकाश हमारा छत्र।'

नीलकंठ की निर्लिप्त प्रकृति से स्वामी मुक्तानन्दजी की आज प्रथम पहचान हुई थी। बातों ही बातों में नीलकंठ की कठोरतम वन-यात्रा और विकट तपश्चर्या को जानकर मुक्तानन्द स्वामी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने प्रणाम करके इस असंगी ब्रह्मचारी को यहीं रुक जाने की प्रार्थना की, 'ब्रह्मचारीजी, हमारे गुरु रामानन्द स्वामीजी फिलहाल कच्छ-भुज पधारे हैं, उनके दर्शन से ही आपको अपनी यात्रा की फलश्रुति मिल जाएगी। आप यहाँ रहने की कृपा करें।'

नीलकंठ महाप्रभु भी इसी सोच में थे। न तो आज तक उन्होंने ऐसे विनम्र सन्त देखे थे, न ही ऐसे संयम-नियम के व्रतों का पालन देखा था। आश्रम का वातावरण ही इतना पवित्र और निर्मल था कि प्रभु को यहाँ के हर कोने से सद्‌गुणों का सौरभ तथा ब्रह्मचर्यादिक नियमों की सुगन्ध आ रही थी। इससे पहले सात-आठ वर्षों में उन्होंने साधु तो बहुत देखे थे किन्तु रामानन्द स्वामी का यह आश्रम और आश्रमवासी सन्त कुछ निराले ही देखे। उन्होंने मुक्तानन्दजी से कहा, 'वैसे तो हम किसी भी स्थल पर गोदोहन मात्र समय तक ही रुकते हैं, लेकिन सिद्धान्त के विषय में आपसे कुछ प्रश्न पूछूँगा, यदि समाधान मिल गया तो मुझे यहाँ रहने में कोई आपत्ति नहीं है।'

स्वामी ने कहा, 'पूछिए ब्रह्मचारीजी, जैसा ज्ञान मैंने गुरु से पाया है, उसके अनुसार आपका समाधान करने का प्रयत्न करूँगा!'

नीलकंठ ने जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म इन पांच अनादि तत्त्वों के स्वरूप के विषय में पूछ लिया और मुक्तानन्द स्वामी ने बड़े धैर्य से इन प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर दिए। नीलकंठ का हृदय आनन्द से पुलकित हो उठा; उन्होंने इसी आश्रम को अपनी वन-यात्रा का पूर्णविराम केन्द्र घोषित कर दिया!

त्यागी-धर्म के संगोप्ता

जिन्हें बड़े-बड़े मठों की महन्ताई न रोक सकी, जो राजाओं के राज्य और उनकी पुत्रियों के बन्धन में न फँसे, वे एक छोटे-से गाँव के छोटे-से आश्रम में रुक जाने के लिए तैयार हो गए! कारण एक ही था, भागवत धर्म के प्रवर्तन के लिए अनुकूल वातावरण और सहयोगियों की चरित्रनिष्ठा।

आश्रम में नीलकंठ ने अभी दो ही दिन बिताए थे, छोटे-से आश्रम के रहते सभा प्रसंग का आयोजन आम तौर पर जीवराज सेठ के घर के आंगन में या शंखलिया चौराहे पर किया जाता था। प्राय: भाविक स्त्री-पुरुष मुक्तानन्दजी की सुमधुर वाणी में रामचरितमानस की कथा का लाभ लिया करते थे।

आज ब्रह्मचारी भी वहीं उपस्थित थे। सभा में प्रवेश लेते ही उन्होंने देख लिया कि श्रोताओं के बैठने की व्यवस्था साधुओं की मर्यादा को भंग करनेवाली है। स्त्री-पुरुषों की अलग-अलग व्यवस्था होने के बजाए

सम्मिलित आयोजन देखकर नीलकंठ का मन व्याकुल-सा हो उठा। उन्होंने तत्काल सभाजनों को सुनाते हुए मुक्तानन्दजी से निवेदन किया, 'ऐसी व्यवस्था साधुओं के लिए मर्यादाभंग की सूचक है, मैं यहाँ कथा नहीं सुनूँगा।' मुक्तानन्द स्वामी ने कुछ तर्क उठाने की सोची ही थी कि नीलकंठ की दृढ़तापूर्ण आवाज़ सुनाई दी : 'त्यागियों की मर्यादा है अष्टांग ब्रह्मचर्य की![23] इस मर्यादा में अनिच्छनीय सम्पर्क भी घी में आग-सा काम करता है। हम त्यागियों को तो इनसे दूर रहना ही अत्यधिक उचित है।'

इतना कहते ही नीलकंठ ने सभा की ओर से मुख मोड़ लिया। उपस्थित सन्तों से कहा, 'आप सब आश्रम में पधारें! हम वहाँ बैठकर कथा-श्रवण करेंगे। यहाँ बैठकर सुनना तो मुझे त्यागी-धर्म का उल्लंघन ही लगता है।'

नीलकंठ इतना कहते ही वहाँ से चल दिए। पूरी सभा में सन्नाटा छाया हुआ था। एक के बाद एक सन्त सभा से चलते बने, मुक्तानन्दजी भी विवश होकर नीलकंठ के अपार आकर्षण के विषय में सोचने लगे। कुछ ही पलों में पुरुषों ने भी सभा से उठना प्रारम्भ कर दिया। अब बाक़ी बचे थे स्वामी मुक्तानन्द और कुछ स्त्रियाँ। मुक्तानन्दजी ने प्रणाम करते हुए कहा, 'मैया! अब तो अन्तिम बार राम राम। इस नीलकंठ का तीर आज से प्रारम्भ हुआ है, अब तो जैसा वे कहेंगे, वैसा ही करना होगा।' इतना कहकर वे भी नीलकंठ की कथा सुनने के लिए मन्दिर की ओर चल दिए।

स्त्री-पुरुष की अलग-अलग बैठक तथा सभाओं में चली आ रही मर्यादा की परम्परा आज भी इस सम्प्रदाय की विशेषता रही है, जो लोज की उस छोटी-सी सभा से प्रारम्भ हुई थी। कितना महान् प्रभाव होगा उस नीलकंठ का! जो केवल दो दिन के निवास में गाँव के वरिष्ठ भक्तजनों

---

23. *श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।*
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेवच ॥ (अग्निपुराण : ३७२/९)

स्त्रियों की बातें सुनना, उनके गुण-कीर्तन करना, उनके साथ खेल खेलना, उनकी ओर आकृष्ट होकर देखना, उनके साथ गुप्त बातचीत करना, उनकी प्राप्ति के संकल्प करना तथा प्रयत्न करना, तथा अंगसंग करना - इन आठों प्रकारों से स्त्री का त्याग ही अष्टांग ब्रह्मचर्य है।

के साथ आश्रम के तमाम सन्तों पर इतनी मोहिनी डाल सके थे।

सम्प्रदाय की इस प्रथा के विषय में थोड़ा-बहुत विवाद हर समय बना रहा है, फिर भी मर्यादा के परिणामों को देखकर संशय करनेवालों ने भी अन्ततः इस परम्परा की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया है, तथा बड़ी समझदारी पूर्वक अभिनन्दन किया है।

गाँधीवादी चिन्तक किशोरलाल मशरुवाला ने ठीक ही लिखा है, 'इस प्रथा का नतीजा यह निकला कि गाँव में स्वामिनारायण मन्दिर होते हुए भी स्त्रियों का एक अलग मन्दिर निर्माण करने का रिवाज पड़ा। यहाँ सत्संगी स्त्रियों के लिए साधना की अनुकूलता तथा कथा-कीर्तनादि करने का प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार स्त्रियों के लिए दर्शनादिक तथा ज्ञानप्राप्ति के लिए स्वतन्त्र व्यवस्था करनेवाले भी भगवान स्वामिनारायण ही थे, स्त्रियों को पढ़ने-लिखने की आवश्यकता होने पर शिक्षा के प्रति उनकी रुचि बढ़ानेवाले भी वे ही थे।'[24]

दीवार में नहीं, धर्म में छिद्र !

नीलकंठ ने त्यागियों को कभी भिक्षाटन करके समाज में दिशाहीन घूमनेवाले समुदाय की दृष्टि से नहीं देखा था। त्यागी उनकी दृष्टि से अध्यात्म परम्परा के सच्चे वारिस थे, इतना ही नहीं, संसार के सबसे प्रभावशाली शिक्षक भी थे। समाज के हर पहलुओं को अपने चरित्र और अनुभवपूर्ण ज्ञान की शक्ति से अधिक तेजस्वी बनानेवाले ज्योतिर्धर के रूप में उन्होंने 'सन्तों' को देखा था। यदि इन ज्योतिर्धरों की ज्योति को धब्बा लगे, समाज के शिक्षक की इज्जत या प्रतिष्ठा की नींव में घुन लगे तो पूरा समाज अधःपतन की खाइयों में गिर सकता है, इसी सोच के साथ उन्होंने तीसरे ही दिन एक और नया कदम उठाया!

बात थी सन्तों की रसोई की दीवार में बने गोख की। आग जलाने की उन दिनों इतनी असुविधा रहती थी कि जलते अंगारे चूल्हे में दिन-रात रखे जाते थे। कभी-कभार उनके बुझ जाने पर आश्रम के सन्त पड़ोस में ही

---

24. सहजानन्द स्वामी अथवा स्वामिनारायण सम्प्रदाय : पृ. ३० (गुजराती) (द्वितीय संस्करण : १९४०)

रहनेवाले नाई के घर से अंगारे माँग लेते थे। जब नाई के घर अग्नि बुझ जाती तो उसकी स्त्री सन्तों से 'आग' की 'भिक्षा' माँग लेती थी। कोई दो-पांच साल से अंगारे लेने-देने का व्यवहार दीवार के इसी छेद से किया जा रहा था।

नीलकंठ ने देख लिया कि स्त्री के हाथों से आश्रमवासी सन्त ने अंगारे प्राप्त किए। उनको झटका-सा लगा। उसी पल उन्होंने स्वामी मुक्तानन्दजी को वहाँ बुला लिया, और इसकी चर्चा करते हुए कहा, 'स्वामी! यह दीवार में छिद्र नहीं है, हमारे धर्म में छिद्र है। सन्तों के लिए स्त्रियों से लेन-देन करना क्या उचित आचरण है? हमारे सन्त पूर्णतः निष्कलंक जीवन जीकर आदर्श स्थापित करनेवाले होने चाहिए।'

मुक्तानन्द स्वामी ब्रह्मचारी की अद्‌भुत संयम-दृढ़ता पर सोचने लगे, परन्तु उनके आदेश की परवाह किए बिना नीलकंठ ने ईंट-चूना मँगवाकर स्वयं ही उस 'धर्मछिद्र' को बन्द कर दिया। सब देखते ही रह गए। धर्म के शुद्धीकरण के इस प्रयोग से सभी सन्त सावधान हो गए। दो शताब्दियाँ बीत जाने के बाद भी सम्प्रदाय के त्यागीवृन्द के कानों में नीलकंठ की वही भनक सुनाई देती है: 'हमारे सन्त पूर्णतः निष्कलंक जीवन जीकर आदर्श स्थापित करनेवाले होने चाहिए !'

स्त्री-पुरुष और स्त्री-सन्त मर्यादा का स्थापन उनका महत्त्वपूर्ण आदर्श बनकर आज भी सम्प्रदाय को 'उज्ज्वल' बनाए रखने में सक्षम सिद्ध हो रहा है।

किशोरलाल मशरुवाला ने कहा था, 'लुप्त हुए ब्रह्मचर्याश्रम की पुनः स्थापना करनेवाले, निरंकुश और स्वच्छंदी त्यागाश्रम को उज्ज्वल बनानेवाले पतित गुरुओं तथा आचार्यों के लिए संयम के आदर्श स्थापित करनेवाले सहजानन्द स्वामी भागवतधर्म के संस्थापक रहे।'

('ऐसी परम्परा के कारण) स्त्री-जाति का गौरव उन्नत हुआ, सम्प्रदाय के नियमों की सुरक्षा में स्त्रियाँ अधिक सुरक्षित बनीं, स्त्रियों के प्रति समाज में सम्मान बढ़ा, सहजानन्द स्वामी के द्वारा स्थापित नियमों के पीछे पुरुषों के ब्रह्मचर्य की चिन्ता से अधिक तो स्त्री के शील की चिन्ता थी। तत्कालीन धार्मिक पंथों की सड़ान्ध का उन्होंने अनुभव किया था!'[25]

25. 'स्त्री-पुरुष मर्यादा' - ले. कि. घ. मशरुवाला।

मात्र दो दिन में ही युगों तक चलनेवाली परम्पराओं की स्थापना करते समय उनकी उम्र कितनी थी? केवल 18-19 वर्ष। बिलकुल अनजान वातावरण में, अपरिचितों के बीच, 'दूसरों' के आश्रम में इस युवावस्था के चौखट पर पाँव रखनेवाले छोटे-से ब्रह्मचारी के आत्मविश्वास में सत्य की निश्चलता कितनी अनन्य होगी कि इतने वरिष्ठ सन्तों ने भी नीलकंठ की रुचि को शिरोधार्य किया।

आश्रम के सेवक

नीलकंठ के प्रति सबका आदर अब गुरुभाव में परिवर्तित होने लगा। वे 'सरयू' नीर के प्रदेश से आए हैं, ऐसा सुनकर अब लोग उन्हें सरजूदास नाम से पुकारने लगे। सरजूदास इतने आदर-पात्र बनने के बावजूद हमेशा सेवक बनकर रहने लगे।

गोबर उठाना, झाड़ू लगाना, बर्तन धोना, सन्तों को कुएँ से पानी खींचकर स्नान करवाना, कन्धे पर काँवर लेकर पूरे गाँव में घूमना और गाँव के लोगों से भिक्षा माँगना सरजूदास का नित्यकर्म बन गया था।

चूल्हे के लिए ईंधन लाना भी नीलकंठ ने अपने जिम्मे उठा लिया। इसके लिए गाँव की गलियों में या गाँव के बाहर गोबर बीनने जाते। गाँव की लड़कियाँ भी गोबर बीनने आतीं, तो सबको गोबर के पास पहुँचते ही पूरे ब्रह्माण्ड का दृश्य दिखाई देता! सूर्य-चन्द्र, नदी-पर्वत, ग्रह, नक्षत्र आदि को अचानक देखते ही वे भौंचक्की रह जातीं! मुस्कुराकर नीलकंठ सब से अधिक गोबर एकत्र करके आश्रम में लौट जाते!

बिजली-सी गति, हर काम में निपुणता तथा स्व-स्वरूप में तुरन्त लीन हो जाने की आत्मस्थिति आदि देखकर लोग बार-बार सोचते रहते कि कौन होगा यह बाल ब्रह्मचारी?

तपोमूर्ति नीलकंठ ने आश्रम में भी अपनी तपश्चर्या जारी रखी थी। भोजन में मात्र हरी मिर्च पीस कर उसका गोला बनाकर खा लेते या फिर मींढी आवल नामक कड़ुई वनस्पति को पीसकर उसका गोला बनाकर अंगीकार कर लेते।

स्वामी रामानन्दजी की आज्ञा से आश्रम के सन्त विविध गाँव-शहरों

में सदाव्रत की सेवा करते थे।

माँगरोल में सदाव्रत लेने आए एक वैरागी ने एकबार नीलकंठ को भोजन करते देख लिया। दूर से उसे लगा कि नीलकंठ कोई विशिष्ट मिष्ठान्न का स्वाद ले रहे हैं। वह भी नीलकंठ के साथ ही भोजन करने की हठ करने लगा। जब नीलकंठ ने अपने 'भोजन' का 'प्रसाद' दिया तो वैरागी पहले कौर लेते ही उछल-उछल कर शोर मचाने लगा। उसकी जीभ, मुँह और नाक जलने लगे। जब नीलकंठ की सलाह से उसको घी पिलाया गया, तब जाकर वह कुछ शान्त हुआ।

योगीराज की योगकलाएँ

मुक्तानन्दजी, नीलकंठ के कृशकाय शरीर को देखते तो खिन्न हो जाते। नीलकंठ के शरीर की एक-एक नाड़ियाँ उभरकर दीख रही थीं। पसलियाँ दूर से भी गिनी जा सकतीं थीं। स्वयं भगवान स्वामिनारायण ने अपने उन दिनों की स्मृति करते हुए वर्षों के बाद कहा था, 'हमने (तपश्चर्या के समय) जो-जो साधन किए थे, ऐसे कष्टदायी थे कि देह की मृत्यु निश्चित ही होती। जैसे कि श्रीपुरुषोत्तमपुरी में हम कितने ही माह तो वायुभक्षण करके ही रहे और विराट पट की नदी में बाढ़ के होते हुए भी शरीर को बहा दिया था, तथा शीत, ग्रीष्म, वर्षाऋतुओं में बिना छाँव, बिना आश्रय एक कौपीन पहनकर महावनों में घूमते रहते। वहाँ, बाघ, हाथी, जंगली भैंसे आदि के बीच रहना होता था।'[26]

स्वामी मुक्तानन्दजी और सन्तवृन्द नीलकंठ के तप को देखते तब अपने तप या त्याग का अभिमान उतर जाता। सभी सन्त, ब्रह्मचारी के योगाभ्यास की प्रवीणता का भी लाभ उठाना चाहते थे। नीलकंठ ने सन्तों के लिए योगाभ्यास का प्रशिक्षण प्रारम्भ किया। सेवायोग, तपोयोग के साथ अष्टांगयोग के संगम से पूरे आश्रम के वातावरण में एक दिव्य चेतना का संचरण होने लगा।

स्वयं नीलकंठ प्रभु हाथ में छड़ी लेकर घूमते। ध्यानस्थ सन्तों को परमात्मा के स्वरूप में मन एकाग्र करने का अभ्यास करवाते। यदि किसी

26. वचनामृत : गढ़डा प्रथम २९।

का मन कहीं और घूमने लगता तो अंतर्यामी नीलकंठ उस सन्त को तुरन्त टोक देते।

स्वयं स्वामी मुक्तानन्दजी को भी एक दिन ऐसा ही अनुभव हुआ। वे ध्यानस्थ ही थे कि उनका मन अपनी नई रंगी हुई तुम्बी की ओर चला गया, 'यदि कुत्ते ने आकर तुम्बी को भ्रष्ट कर दिया तो!' नीलकंठ उसी समय वहाँ आ पहुँचे और मुक्तानन्द स्वामी की अस्थिर चित्तवृत्ति पर टोकते हुए कहा, 'स्वामी, दैवत् तुम्बीपात्र में है या ध्यान में? या दोनों में समान दैवत समझते हो?'

मुक्तानन्द स्वामी के रोम-रोम सिहर उठे! नीलकंठ से मन का कोई भेद छिपाया नहीं जा सकता। यह नीलकंठ सचमुच अद्‌भुत हैं। अनन्य है। मुक्तानन्द स्वामी भूल स्वीकार करके नीलकंठ को गुरुभाव की नज़र से देखने लगे।

वर्णीराज की यथार्थ महानता

आश्रम में महीने पर महीने बीत रहे थे। नीलकंठ यहाँ स्वामी रामानन्दजी[27] से भेंट करने के लिए ही रुके थे, लेकिन आज तक न तो उनकी कोई खबर थी, न कच्छ-भुज जाने के लिए मुक्तानन्दजी की

27. स्वामी रामानन्दजी :

सं. १७९५ (सन् : १७३९) में अयोध्या में अजयप्रसाद तथा सुमति देवी नामक ब्राह्मण दम्पति के यहाँ अत्यन्त गुणवान पुत्र का जन्म हुआ। नाम था : राम शर्मा। इस भक्तिनिष्ठ बालक ने विद्याभ्यास के बाद तपश्चर्या के लिए गृहत्याग किया और सौराष्ट्र में तलाजा गाँव में काशीराम शास्त्री से शास्त्र-अभ्यास प्रारम्भ किया। फिर गिरनार पर्वत (जि. जूनागढ़) की तलहटी में बसे त्रम्बा गाँव में स्वामी आत्मानन्दजी का शिष्यत्व स्वीकार किया। उनकी अद्वैतवाद की मान्यता राम शर्मा को रुचिकर न लगी। वे अनन्य भक्तिभावना से भगवान के स्मरण-भजन में मग्न रहते। उनको भगवान के साक्षात्कार की अभिलाषा थी, अतः उन्होंने 'भक्ति की भूमि' दक्षिण के प्रदेशों में जाकर सच्चे गुरु की खोज करना प्रारम्भ किया। आखिर रामानुजाचार्यजी के श्रीरंगक्षेत्र में बहुत साधना के बाद स्वयं रामानुजाचार्यजी ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिए। उनको भागवती-वैष्णवी दीक्षा दी, और 'रामानन्दजी' नाम रखा ! सुबह वे जब उठे तो अपने भाल पर वैसा ही तिलक पाया, जैसा रामानुजाचार्यजी ने स्वप्न में किया था।

सहमति थी।

गुरुदर्शन के लिए व्याकुल नीलकंठ ने मुक्तानन्द स्वामी से निवेदन किया, 'क्यों न हम रामानन्द स्वामी को पत्र लिखें? ताकि वे हमें दर्शन देने के लिए शीघ्रता करें!'

मुक्तानन्दजी इस छोटे-से ब्रह्मचारी की महान् गुरुभक्ति को देखकर मुस्कुराने लगते। उन्होंने नीलकंठ की प्रार्थना स्वीकार कर ली। सरजूदास ने भी बड़े भक्तिभाव से गुरु के चरणों में पत्र के द्वारा अनन्य अनुनय अर्पण किया।

महाप्रभु नीलकंठ ने लिखा : [28]

'स्वस्ति श्रीभुज नग्र महासुभ स्थान्य बीराजमान स्वामीजी श्री रामानन्दजी सद्‌गुरु रूपी सूरज उदे भया है, बाकी सेवा में गाम लोहझ से सेवक ब्रह्मचारी नीलकंठ दुजी संज्ञा सरजुदास के दंडोत प्रनाम बाचोगे।

दीक्षा के बाद वे भक्तिनिष्ठा तथा धर्मनिष्ठा का प्रचार करने लगे। वृन्दावन में उन्होंने घनश्याम (भगवान स्वामिनारायण के बचपन का नाम) के पिता धर्मदेव और माता भक्तिदेवी को मार्गदर्शन किया था। दोनों ने इस महात्मा का शिष्यत्व भी स्वीकार किया था।

जब उन्हें भगवान का साक्षात्कार हुआ, तब भगवान ने अपने श्रीमुख से स्वामी रामानन्दजी से कहा था कि परमात्मा स्वयं पृथ्वी पर अवतार धारण करनेवाले हैं, आप केवल समय की प्रतीक्षा करते रहें।

इस प्रसंग की स्मृति करते हुए स्वामीजी कई बार कहा करते थे, 'मैं तो केवल डुगडुगी बजानेवाला हूँ, खेल करनेवाले मुख्य अभिनेता तो अब आनेवाले हैं!' रामानन्द स्वामी ने माँगरोल के समीपवर्ती अनेक गाँवों में सदाव्रतादि से सत्संग विकास की नींव रखी थी। सदाव्रत से उनका एक ही उद्देश्य था, भगवान कहीं वर्णीवेश में आ गए, तो सदाव्रत के जरिए आश्रम में आए बिना नहीं रहेंगे और हुआ भी वैसा ही। रामानन्द स्वामी ने वर्णीराज की प्रतिभा के विषय में विभिन्न लोगों से तो थोड़ा-बहुत सुन ही रखा था, परन्तु जब मुक्तानन्दजी और वर्णीराज के पत्र मिले तो इतने प्रसन्न हुए कि सहज ही बोल उठे, 'हम जिनकी आज तक प्रतीक्षा कर रहे थे, ऐसे परमात्मा हमारे बीच आ चुके हैं। आज हम धन्य हुए हैं।'

28. पत्र की हिन्दी भाषा दो सौ साल पुरानी है, अतः इस की प्रासादिकता समझकर पत्र की वर्तनी थोड़े-बहुत सुधार के साथ यथावत् रखी गई है।

'विशेष, लिषवा कारन यों है, कि हमो ईश्वर इच्छा सु चार धाम करी के अरु देस में आए, तहा तुहारा नाम सुना, के पश्चिम देश में जीवनमुक्ता प्रकटे हैं, फिर वन में गोपाल योगी के पास रहके योग-साधना करके अष्टांग योग साध कियो। उस बात में यह जोगी ने कहा था, जो गिरनार की छाया में सीध (सिद्ध) मिलेंगे। फिर वायु-भक्षन करके बहुत दिन रहे, परंतु प्रगट क्रश्न के दरशन न हुवे, अबे शुद्ध भूमि जान के यहाँ रहे हैं, तो आप यहां बिराज के हमकू प्रकट क्रश्न मीलाओ, हमें सुना है के धारना में (समाधि में) दरस करवाते हो, ऐसा स्वामी मुक्तानन्दजी से सुनकर यह साधु कु हम नीष्कपट जान के ठहरे है। स्वामीजी और भटजी (मयाराम भट्ट) कहे, कि हम (स्वामी को) यहाँ बोलावेंगे। वा सु यहां रहे हैं। जैसे चकोर चन्द्र कु इछे है ऐसे हम तुहारे द्रश्न (दर्शन) ताकु चहते है, तो तरत दर्शन देहो। नहीं तो तुमारी सेवा में आवेगे। संवत् 1856, फालगुन वदी 5 लिखो के तुरंत बाच के (पढ़कर) करुनादृष्टि करोगे। नहीं तो हम नहि रहे वे!'[29]

मयाराम भट्ट यह पत्र लेकर जब भुज पहुँचे तो पढ़कर स्वामी रामानन्दजी हर्ष-पुलकित होकर गद्‌गद हो गए। सभाजनों के समक्ष उन्होंने कहा, 'मैं आपसे बार-बार कहता आया हूँ, कि मैं तो सिर्फ़ डुगडुगी बजानेवाला हूँ, और सच्चे अभिनेता तो अब आ रहे हैं। आज वह वचन सत्य होता है। नीलकंठ वही अभिनेता हैं, जिसकी मैं हर पल, हर दिन, हर सुबह-शाम प्रतीक्षा कर रहा था।'

सभाजन तो आज स्वामीजी के नये रूप के दर्शन से अत्यन्त आश्चर्य मुग्ध हो रहे थे। स्वामीजी ने भट्टजी को आदेश दिया, 'लोज लौटते समय मार्ग के हर गाँव में मेरे नाम से आदेश देते जाना कि सब नीलकंठ के दर्शन करने के लिए लोज पहुँचें।'

भट्टजी ने वैसा ही किया। किन्तु शेखपाट (जि. जामनगर) के लालजी सुतार ने भट्टजी की एक न सुनी! वे रामानन्द स्वामी के एकनिष्ठ भक्त थे। उन्हें संशय तो यह था कि कहीं गुरुजी ने हमारी एकनिष्ठ भक्ति की कसौटी लेनी तो नहीं सोची। वे लोज जाने के बजाय कच्छ-भुज जा

29. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, १/५४६. ले. ह. त्रि. दवे।

पहुँचे। स्वामीजी ने इन्हें देखा तो डपटकर पूछा, 'मेरे आदेश की खबर तुम्हें नहीं मिली थी क्या?'

'लेकिन स्वामी, आपने एक छोटे से ब्रह्मचारी के दर्शन के लिए हज़ारों की तादाद में हरिभक्तों को भेजने की चेष्टा क्यों की? मेरी तो समझ में ही नहीं आ रहा है कि...।'

'यह तुम्हारी समझ में आनेवाली बात नहीं है। तुम इस ब्रह्मचारी को छोटे क्यों समझते हो? क्या तुमने उनकी महिमा की थाह पा ली है?' रामानन्द स्वामी ने लालजी को स्तब्ध कर दिया। वे स्वामी से पूछने लगे: 'क्या ब्रह्मचारी बहुत महान् है?'

'हाँ, बहुत महान् है!'

'क्या, वे सुखानन्द स्वामी के समान है!'

'नहीं, उनसे तो कई गुना महान्!'

'तो फिर मुक्तानन्द स्वामी के समान होंगे!'

'नीलकंठ उनसे भी बड़े हैं!'

'तो क्या वे आपके समान महान् है!'

अब रामानन्द स्वामी पलभर रुके, लालजी के चेहरे पर गहरी नज़र से एकटक देखते हुए निश्चलता से कहा, 'लालजी, वे मुझसे भी महान् हैं! वे सर्वोपरि सर्वावतारी परमात्मा हैं।' लालजी के अंत:करण में धमाका-सा हुआ। वे स्तब्ध रह गए।[30]

अब उन्होंने फौरन लोज का मार्ग पकड़ लिया। वहाँ पहुँचकर वे नीलकंठ के दर्शन से कृतार्थ हुए।

गुरु-शिष्य का मिलन

रामानन्द स्वामी भी अब नीलकंठ से मिलने के लिए व्याकुल थे। उन्होंने कच्छ-प्रवास को समेटकर सौराष्ट्र की ओर प्रस्थान किया। पीपलाणा (जि. जूनागढ़) पहुँचते ही उन्होंने कुरजी दवे को लोज के लिए

---

30. हरिलीलामृत : ४/३, लालजी सुतार कुछ समय के बाद त्यागी हुए थे, उनका नाम था : स्वामी निष्कुलानन्दजी! जो सम्प्रदाय के अष्ट कवि सन्तों में अग्रणी थे।

रवाना किया। दवे के साथ मुक्तानन्द स्वामी तथा नीलकंठ के लिए एक ही सन्देश था, 'मैं पीपलाणा में आप दोनों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।'

नीलकंठ इस सन्देश को सुनकर आनन्दविभोर हो उठे। संघ ने पीपलाणा की ओर कदम बढ़ाए।

आज नीलकंठ को इस छोटे-से गाँव में दस माह और छः दिन बीत चुके थे। इतने ही कालखण्ड में उन्होंने अपने दिव्य व्यक्तित्व का सत्संग समुदाय के हर व्यक्ति पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि उसका असर आगामी दिनों में समय को बदल देनेवाला था।

स्वामी रामानन्दजी को खबर मिली कि नीलकंठ गाँव की सीमा तक आ चुके हैं, तो अपने आसन से शीघ्र उठे और नीलकंठ से मिलने के लिए इतने अधीर हुए कि गाँव की सीमा की ओर दौड़ने लगे।

नीलकंठ से मिलते ही उन्होंने बाँहों में जकड़ लिया! गुरु-शिष्य का यह अपूर्व मिलन था। कई वर्षों से हुई बंजर धरती पर मानो आसमान बरस पड़ा हो! रामानन्द स्वामी के रोम-रोम में आनन्द का महासागर उमड़ रहा था। नीलकंठ ने प्रेम-बन्धन से छूटते ही गुरु को दंडवत् प्रणाम किया। गाँव में दोनों को धूमधाम से विराजमान कराया गया।

रामानन्द स्वामी का पितृवत् स्नेह नीलकंठ पर हर पल बरसता रहता। दोनों 4 माह तक साथ रहे। नीलकंठ के कृश शरीर को देखकर स्वामीजी की आँखें कई बार भर जातीं। उन्होंने नीलकंठ के सुस्वास्थ्य के लिए मोम के तेल से उनकी मालिश करवाने की सेवा शुरु की। कस्तूरी का प्रयोग भी करवाया। सोनामुखी के औषध का सेवन भी प्रारम्भ करवाया। क्योंकि नीलकंठ का शरीर इतना दुर्बल था कि सर्दी के दिनों में अँगीठी आदि से तापने के बाद भी उन्हें पसीना नहीं होता था![31]

करुणामूर्ति का धर्मधुरा-धारण

कुछ माह के पश्चात् रामानन्द स्वामी ने नीलकंठ के लिए महान दीक्षा समारोह का आयोजन किया। निमन्त्रण-पत्रिका भिजवाकर गाँव-गाँव से सैकड़ों हरिभक्तों को पीपलाणा में (जि. जूनागढ़) बुलवाया। विशाल

31. हरिचरित्रामृत सागर : 3/6

यज्ञशाला के मध्य में तैयार सुन्दर यज्ञ-कुण्ड के समक्ष विद्वान् पुरोहितों ने वैदिक वातावरण उपस्थित कर दिया।

रामानन्द स्वामी ने विराट् जनमेदनी के जयघोष के साथ नीलकंठ ब्रह्मचारी को वैष्णवी दीक्षा देकर 'सहजानन्द स्वामी' और 'नारायण मुनि' दो नाम से विभूषित किया। वह शुभ दिन था : आषाढ़ी संवत् 1857, शुक्ला एकादशी का![32]

स्वामी रामानन्दजी ने देख लिया था कि स्वामी सहजानन्दजी का प्रभाव प्रत्येक हरिभक्त की आत्मा तक फैल चुका है। बिना कहे, सबको इनके प्रति गुरुभाव पैदा हो रहा है। उन्होंने सत्संग के अग्रणी सन्तों-भक्तों के साथ परामर्श करके अपने स्थान पर सहजानन्द स्वामी को धर्मधुरा सौंपने का निर्णय ले लिया!

जब यह खबर सहजानन्द स्वामी के पास मुक्तानन्द स्वामी ने पहुँचाई, तब वे शास्त्रों के साररूप अपनी गुटिका से कुछ पढ़ रहे थे। स्वामी मुक्तानन्दजी ने गुरु का निर्णय सुनाया तो सहजानन्द स्वामी उदास लहजे में बोल उठे, 'मैं जानता हूँ, गुरुजी मेरे सिर पर पूरे ब्रह्माण्ड का बोझ रखना चाहते हैं, लेकिन मैं इस गद्दी को स्वीकार नहीं करूँगा।' स्वामी मुक्तानन्दजी इस निःस्पृह धर्मनेता को देखते रह गए। आखिर गुरु ने उनको स्पष्ट कहा, 'नारायण मुनि, तुम्हें संसार के कोई बन्धन बाँध नहीं सकते। तुम्हारा तो प्राकट्य ही भागवत-धर्म के स्थापन के लिए है। अतः मेरे इस आदेश को लोगों के कल्याण के लिए भी शिरोधार्य करो!'

अन्ततः केवल 21 साल की उम्र के इस युवा धर्मनेता ने अध्यात्म जगत को अनेक दूषणों के घेरे से मुक्त करके परिशुद्ध भागवत धर्म की स्थापना का संकल्प कर लिया। पूरे संसार पर उतर रही उनकी करुणा की गंगा की पहचान सबको उसी वक्त हुई, जब स्वामीजी ने अपने इस महान् शिष्य को धर्मधुरा सौंपने के बाद कुछ वरदान माँगने को कहा।

सहजानन्द स्वामी ने माँग लिया, 'हे स्वामिन्, आपके सत्संगी को यदि एक बिच्छू काटने की पीड़ा भोगनी हो, तो मेरे रोम-रोम में कोटि-कोटि बिच्छू की पीड़ा हो, परन्तु आपके सत्संगी को तनिक भी पीड़ा न हो।

32. दि. : २७-१०-१८००

'तथा हे स्वामिन्, आपके सत्संगी के भाग्य में यदि भिक्षा माँगकर गुजारा करना लिखा हो, तो वह भीख मेरे नसीब में हो। परन्तु आपके सभी भक्त अन्न-वस्त्र के लिए दुःखी न हों। यह दो वरदान मुझे दीजिए।' रामानन्द स्वामी इस भक्तवत्सल शिष्य को निहारते रह गए। पूरे सभा-खंड में एक शीतल दिव्यता का मेघ बरस गया!

अध्यात्म-इतिहास में करुणा का ऐसा उद्रेक शायद ही कहीं देखने को मिलता है, ऐसा विरल अवसर जेतपुर गाँव के ज़मींदार उन्नड़ खाचर के दरबार भवन के विशाल चौक में सम्पन्न हुआ और रामानन्द स्वामी ने ठीक इस प्रसंग के तेरहवें दिन अपनी शरीरलीला समेट ली।

'स्वामिनारायण' महामन्त्र का अवतरण

गुरु के अक्षरनिवास के चौदहवें दिन स्वामी सहजानन्दजी ने विराट सत्संग-सभा को अद्‌भुत सम्बोधन किया।

साथ ही एक विशिष्ट मन्त्र का जप करने का सबको आदेश दिया, 'आज से सब प्रकट 'स्वामिनारायण' महामन्त्र के साथ भजन करना प्रारम्भ करें!'

सत्संग समुदाय को इस अपरिचित मन्त्र से अत्यंत आश्चर्य हुआ, किन्तु उसका अर्थ जाना तब सभी के अन्तःकरण में मन्त्र के प्रति निष्ठा पनपने लगी।

जिस प्रकार राधा, उमा, सीता, नर आदि भगवान के उत्तम भक्त हैं, जो अनुक्रम से कृष्ण, महेश, राम या नारायण की उपासना करते हैं, उसी प्रकार हम भी उन्हीं के स्तर पर पहुँचकर ही अपने इष्टदेव की सत्यरूप से उपासना कर सकते हैं। जिस प्रकार उन स्वरूपों की युगल-स्मृतियाँ हमारे मानस-पटल पर छायी हैं, उसी प्रकार स्वामिनारायण महामन्त्र में 'स्वामी' का अर्थ भक्त अथवा अक्षरब्रह्म होता है तथा नारायण का अर्थ परब्रह्म-परमात्मा होता है। अक्षररूप होकर पुरुषोत्तम की उपासना करने का, अर्थात् स्वामी रूप होकर नारायण की उपासना करने का ध्येय मन्त्र ही है : स्वामिनारायण!

उसी दिन से स्वामी सहजानन्दजी को लोग गुजरात के गाँव-गाँव

और नगर-क़सबे में 'भगवान स्वामिनारायण' के नाम से पहचानने लगे। सत्संगी के हर घर में नाद गूँजने लगा, 'स्वामिनारायण, स्वामिनारायण।'

सन्तों ने अपने पद में इस महामन्त्र की महिमा इस प्रकार गाई है :

'स्वामिनारायण, स्वामिनारायण, स्वामिनारायण सत्य रे,
रट रे मन रैन-दिन और सब असत्य रे!
धरत ध्यान महा मुनीन्द्र सुरीयेन्द्र समत्य रे,
सहजानन्द, जगतवंद्य आनन्दघन अत्य रे...।'

समाधि की अनन्य अनुभूति

भगवान स्वामिनारायण के अद्‌भुत व्यक्तित्व तथा अपार करुणा ने 'स्वामिनारायण' मन्त्र के उच्चार के द्वारा जो 'समाधि' के अनन्य ऐश्वर्य को उजागर किया, वह अपने आप में अद्‌भुत था!

जो कोई जाने-अनजाने में, महिमापूर्वक या तटस्थ-भाव से इस मन्त्र का उच्चारण करता था, तुरन्त भूमि पर गिर जाता। उसके नाड़ी-प्राण खींचते चले जाते। साथ ही उसकी आत्मा दिव्यधामों की सैर करने के लिए निकल जाती! जब व्यक्ति जागृत होता, तो ऐसी-ऐसी बातें बताता कि लोग हैरत से देखते रह जाते!

इस मन्त्र के द्वारा श्रीहरि ने 'समाधि' प्रकरण का अनन्य दौर चलाया। मांगरोल, लोज, मेघपुर, सरघार आदि स्थलों पर स्वामी रामानन्दजी द्वारा स्थापित सदाव्रत के केन्द्र अब तक कार्यरत थे। यदि कोई अभ्यागत आकर पूछ लेता कि यह किसका सदाव्रत चलता है? तो उसे उत्तर मिलता, 'स्वामिनारायण का सदाव्रत चलता है' और वहाँ एक आश्चर्य फैल जाता। 'स्वामिनारायण' नाम सुनते ही वह पूछनेवाला समाधि में उतर जाता। जब जागता तो वह अपना अन्तर प्रकाश से भरा महसूस करता। वह श्रीहरि के दर्शन के लिए आता और सदा के लिए उनका शरणागत हो जाता।[33]

जो व्यक्ति जिस अवतार का भक्त होता, उसे वही मूर्ति का अद्‌भुत दर्शन होता। कभी दृष्टिमात्र से, कभी छड़ी या रुमाल के स्पर्श से, कभी

33. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, 1/543. ले. ह. त्रि. दवे।

अपनी खड़ाऊँ की चटक-चटक आवाज़ से, तो कभी भावपूर्ण दर्शन से हज़ारों लोगों को समाधि का अनुभव होता रहता, कोई इसे अज्ञानवश जादू-टोना भी समझ लेता, लेकिन परब्रह्म के सर्वावतारी स्वरूप के अनेक लक्षणों में से एक लक्षण 'बिना अष्टांगयोग सिद्ध किए भी किसी को भी समाधि कराने का सामर्थ्य' को बहुत लोग समझ नहीं पा रहे थे। स्वयं मुक्तानन्द स्वामी भी ऐसी ही उलझन में फँसे हुए थे। जब उन्होंने सुन लिया कि सहजानन्द स्वामी 'स्वामिनारायण' महामन्त्र के जरिए सैकड़ों, हज़ारों को समाधि द्वारा भगवान के दिव्य धामों के दर्शन कराते हैं, तो उनका हृदय अनेक आशंकाओं से घिर गया, 'बिना अष्टांग योग, समाधि कैसे सम्भव है? निश्चित ही इसमें कोई कारीगरी ही हो सकती है। न जाने रामानन्द स्वामी ने ऐसे स्वच्छंद नौसिखिये को सम्प्रदाय की धुरा क्यों सौंप दी! यह तो सब कुछ चौपट करने पर ही तुले हैं।'

वे तुरन्त कच्छ-भुज से सौराष्ट्र की ओर जाने के लिए निकल पड़े। जब मेघपुर (जि. जूनागढ़) में भगवान स्वामिनारायण से भेंट हुई तो डपटकर पूछने लगे, 'यह क्या पाखण्ड चलाया है आपने? क्यों आप ऐसा जादू-टोना करके सत्संग की खिली-फूली फुलवारी को चौपट करने पर तुले हैं। आज से चमत्कारों से शेखी मारना बन्द करें, ऐसी मेरी बिनती हैं!'

मुक्तानन्द स्वामी के बदले हुए तेवर देखते ही भगवान स्वामिनारायण ने सहजभाव से हाथ जोड़ दिए। फिर कहा, 'स्वामी, न तो मैं जादू-टोना करता हूँ, न कोई अभिचार प्रयोग। मैं तो बस, भक्त और भगवान का भजन करवाता हूँ और लोग भजन करने के साथ ही समाधिदशा में लीन हो जाते हैं।' इतना कहते ही मुक्तानन्द स्वामी के शिष्य सन्तदासजी की ओर उन्होंने एकाग्रता से दृष्टि गड़ाई। उसी पल वे अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही लुढ़क गए। जब जागे और अनेक दिव्यधामों के दर्शन की बातें करने लगे, तो मुक्तानन्द स्वामी दिग्मूढ़ होकर सुनते रहे।

स्वामी मुक्तानन्दजी के मन में अभी भी शंकाओं के परिन्दे पंख फड़फड़ा रहे थे। उनको दूसरे ही दिन कालवाणी गाँव में अपने गुरु रामानन्द स्वामी ने दिव्य रूप में दर्शन दिए और सहजानन्द स्वामी की अपार महिमा सुनाई। फिर कहा, 'भगवान के चरित्रों में दिव्यभाव ही

आपकी साधना है। मैंने आपको पहले ही कहा था कि मैं तो सिर्फ़ डुगडुगी बजानेवाला हूँ, सच्चा अभिनेता तो आ रहा है। स्वामी, यह वही हैं जिनकी शास्त्रों ने परमात्मा कहकर स्तुति की है! यह वही हैं, जिन्हें पाने के लिए साधक जनम-जनम कठिन साधना के पीछे अपना सर्वस्व लुटा देते हैं।'

मुक्तानन्द स्वामी के मन से शंका के बादल छंट गए। महिमा का उजियारा फैलने लगा। उन्होंने इसी आनन्द में सहजानन्द स्वामी की 'आरती' रची, रामानन्द स्वामी की गद्दी पर बिठाकर उन्होंने पूर्ण भक्तिभाव के साथ आरती की, जो आज भी सम्प्रदाय के हर मन्दिर में, सत्संगी के हर घर में भगवान की महिमा का प्रणवनाद करती रहती है :

जय सद्‌गुरु स्वामी, जय सद्‌गुरु स्वामी;
सहजानन्द दयाळु, बळवंत बहुनामी...। जय॰

चरणसरोज तमारां, वंदुं कर जोडी,
चरणे चित धर्याथी, दुःख नाख्यां तोडी...। जय॰ 1

नारायण सुखदाता, द्विजकुळ तनु धारी,
पामर पतित उद्धार्या, अगणित नरनारी...। जय॰ 2

नित्य नित्य नौतम लीला, करता अविनाशी,
अडसठ तीरथ चरणे, कोटि गया काशी...। जय॰ 3

पुरुषोत्तम प्रगटनुं, जे दर्शन करशे,
काळकर्मथी छूटी, कुटुंब सहित तरशे...। जय॰ 4

आ अवसर करुणानिधि, करुणा बहु कीधी,
मुक्तानन्द कहे मुक्ति, सुगम करी सिधी...। जय॰ 5

❀ ✿ ❀



भगवान स्वामिनारायण की सम्मानयात्रा

५

विलक्षण प्रतिभा

उन्होंने गुरुपद की आकांक्षा नहीं की थी, न उसके लिए कोई पुरुषार्थ परन्तु सूर्योदय के साथ ही सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व उसका आधिपत्य स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार स्वामी सहजानन्दजी के नेतृत्व को पूरे सत्संग समाज ने हृदयपूर्वक स्वीकार कर लिया।

अपने घोर तप के अनुभवों के बाद एक नूतन समाज का निर्माण करना उनका लक्ष्य था और समाज-कल्याण के उस पावनकारी उद्देश्य को सिद्ध होने में यदि किसी एक तत्त्व का प्रभाव था, तो वह था उनके ऋजु, स्नेहपूर्ण और चमत्कारिक व्यक्तित्व का।

छोटी-सी उम्र में गुरुपद पर आसीन इस युवा-धर्म नेता की कैसी सादगी थी! तपस्वी की तरह पहले तो केवल कौपीन पहनकर रहते थे, किन्तु जबसे मुक्तानन्दजी के सम्पर्क में आए, उनके कहने से संन्यासियों का बड़ा-सा चोला (अलफ़ी) धारण कर लिया था। तब लोग उन्हें 'सरजूदास' के नाम से पुकारते थे। अब गुरुपद संभालने के बाद वे सफेद धोती, गेरुआ उत्तरीय और छोटी-सी टोपी धारण करते थे।

जीवनभर उनकी रुचि श्वेत वस्त्रों की ओर ही रही। कभी-कभी उत्तरीय, तो कभी सौराष्ट्र के लोगों के पहनावे को भी स्वीकार करते थे, भक्त समुदाय के द्वारा यदि रेशमी, कुसुम्बी या राजा-महाराजाओं सी पोशाक अर्पण होती, तो बस, दो-चार मिनट धारण करके तुरन्त किसी ब्राह्मण या याचक को दान में दे देते थे।

अनासक्ति उनका स्वभाव था। उन्होंने स्वयं कहा था, 'बोझ के नाम पर मैं एक रुमाल तक नहीं सह सकता हूँ और जब अच्छी-अच्छी चीज़ें मिलती हैं तो, जब उन चीज़ों का त्याग करूँ तभी जाकर मुझे चैन मिलता है!'

इस निःस्पृहता ने ही उनकी ओर पूरे सत्संग-समाज का आदर और स्नेह चौगुना बढ़ा दिया था।

एक दिन की बात है। गढड़ा के काठी गिरासदारों (क्षत्रिय ज़मींदारों) ने भगवान स्वामिनारायण को एक उत्तम घोड़ा भेंट किया। कुछ दिन ही बीते थे कि श्रीहरि ने काठियों से सुन लिया कि 'महाराज! यह तो 'रोज़ा' (जाति का) घोड़ा है। सारे सौराष्ट्र में इसकी कोई मिसाल नहीं मिलेगी।'

महाराज ने कुछ सोचते हुए कहा, 'अच्छा।' फिर उसी शाम वे स्नान करने के लिए रोज़ा पर सवार होकर नदी पर पहुँचे। काठियों के साथ बहुत जल-क्रीडा की। जब बाहर निकले तो एक भिक्षुक ब्राह्मण दीन हालत में महाराज से कुछ सहायता के लिए गिड़गिड़ाने लगा। महाराज ने पलभर काठियों की ओर देखा, फिर अपना घोड़ा लाने का आदेश दिया। जब सेवक घोड़ा लेकर समीप आया, तो उसकी लगाम पकड़कर महाराज ने उस ब्राह्मण के हाथ में थमा दी और कहा, 'लीजिए भूदेव! यह घोड़ा आपको कृष्णार्पण!'

काठियों के भीतर तो हाहाकार मच गया। 'यह आपने क्या किया महाराज! इतना अद्‌भुत घोड़ा इस ब्राह्मण को बस यूँ ही क्यों दे दिया! अरे, यह भिखारी आने-दो आने का ग्राहक था।'

श्रीहरि ने बड़ी निश्चलता से कहा, 'अच्छे पदार्थ की आसक्ति अध्यात्म-मार्गी को बन्धन करती है!' और वे स्मित करते हुए पैदल ही अपने निवास की ओर चलने लगे। ब्राह्मण घोड़ा लेकर बिदा हो गया।

❖ ❖ ❖

धर्मपुर-वाँसदा की महाराणी कुशलकुंवर बाई ने बड़ी धूमधाम से अपने राज्य में श्रीहरि का पदार्पण कराया था। पाँच सौ सन्त तथा सैकड़ों हरिभक्तों की दिन-रात सेवा करके उन्होंने श्रीहरि के प्रति अनन्य भक्ति समर्पित की, आखिर अपना सर्वस्व अर्पण करने की अभिलाषा से उन्होंने श्रीहरि के समक्ष प्रस्ताव रख दिया, 'प्रभु, मेरे 500 गाँव, आज मैं आपके चरणों में अर्पण करती हूँ!'

महाराज यह सुनते ही खड़े हो गए, फिर स्मित करते हुए कहा, 'राजमाता, न हम राज्य करने आए हैं, न कुछ लेने! ऐसे व्यवहार को हम गधे की पीठ का बोझ समझते हैं। हमें, तुम्हारे राज्य से नहीं, तुम्हारे भक्तिभाव से वास्ता है!'

अनन्य मुद्रा-आकर्षण

उनके अनन्य मुद्रा-आकर्षण में बड़े-बड़े महानुभावों का गर्व भी मोम की भाँति पिघल जाता था। ऐसे महापुरुषों के जीवन में चमत्कार एक विलक्षणता होती है। वे चाहते हुए भी अपने ऐश्वर्य को प्रकट होने से रोक नहीं सकते हैं, जैसे सूर्य अपना प्रकाश रोक नहीं सकता। भगवान स्वामिनारायण के जीवन में अपने उद्देश्यों की सफलता में न केवल उनके उपदेशों का ही प्रभाव था, बल्कि चमत्कारों के कारण फैली उनकी प्रतिभा से भी लोग सहज ही खिंचते चले आते थे।

बोटाद के ठाकुर हमीर खाचर भले ही बड़े ज़मींदार थे लेकिन लूटपाट करना उनका पेशा था। एक दिन वे कुछ व्यापारियों को लूटकर गढड़ा होकर बोटाद लौट रहे थे। गढड़ा में श्रीहरि के दर्शन के लिए बड़ा उत्सव मनाया जा रहा था। वहाँ बड़े-बड़े गाँवों के ठाकुरों को तथा राजाओं को देखकर वे कहने लगे, 'अरे, क्या आश्चर्य की बात है! तुम लोग इस मनुष्य को भगवान मानकर मूर्खों की भाँति स्वामिनारायण के पीछे पागल होकर क्यों घूमते रहते हो? क्या कोई मनुष्य भगवान हो सकता है?'

इतना कहकर वे भी एक सड़ा-गला नारियल लेकर श्रीहरि के पास आ पहुँचे। महाराज ने उस नारियल का स्पर्श किया और वह नारियल भरपूर पानी से खनकने लगा। इस चमत्कार को देखते ही ठाकुर साहब,

श्रीहरि के शरणागत हो गए और ब्रह्मानन्द स्वामी से वर्तमान (संप्रदाय प्रवेश की दीक्षा) धारण करने की प्रतिज्ञा ले ली। इसके बाद उन्होंने अपना लूटपाट का पेशा सदा के लिए छोड़ दिया।[34]

ई. स. 1813 में गुजरात भीषण अकाल के कारण दाने-दाने के लिए तरस रहा था।[35] ऐसा भयानक अकाल आने से पहले ही भगवान स्वामिनारायण ने हरिभक्तों को आगाह कर दिया था और धन-जेवर बेचकर भी अन्न का संग्रह करने का आदेश दे दिया था, किन्तु चमत्कार के नाम पर लोगों को पथ-भ्रष्ट करना उनका उद्देश्य नहीं था।

एक दिन माँगरोल के 'दूध तालाब' में श्रीहरि, संघ के साथ स्नान करने के लिए पधारे। यहाँ रामचन्द्र सेठ ने मन ही मन संकल्प किया कि, 'किनारे से थोड़ी दूरी पर पड़ी हुई विशाल चट्टान महाराज के चमत्कार से किनारे तक आ जाए तो गाँव की महिलाओं को कपड़े धोने के लिए अच्छी सुविधा हो सके।' बस, रामचन्द्र का संकल्प हुआ ही था कि श्रीजीमहाराज ने उनको बुलाकर कहा, 'सेठ, चट्टान के बारे में क्या सोचते हैं? इतनी सी शिला यहाँ लाना तुम्हारे लिए तो कोई कठिन बात नहीं है। बस, उसे हाथ लगाओ, वह तुम्हारे पीछे चली आएगी।'

रामचन्द्र विस्मित होकर शिला के पास गए और जैसे ही हाथ लगाया कि चट्टान में चैतन्य का संचार हुआ। सेठ ने उसे जहाँ पर रखना चाहा, रख दी। फिर महाराज के चरणों में गिरकर बार-बार आभार मानने लगे। तब महाराज ने कहा, 'सेठ, यदि यह चमत्कार न दिखाया होता तो क्या हम भगवान मिट जाते? आप गौर से सुनिए कि हमारे लिए चमत्कार करना कोई

---

34. भगवान स्वामिनारायण : प्रथम संस्करण, 2/23. : ले. ह. त्रि. दवे।
35. इस अकाल के दौरान सैंकड़ों लोग भूख एवं रोग के कारण मौत की नींद सो गए थे। कई लोगों ने अपनी संतानों को बेचकर अपने पेट की आग शान्त की थी। तो कई लोगों ने संतानों को अपनी किस्मत पर छोड़ दिया था। ऐसी भीषणता से जूझने के लिए अनेक कुएँ तथा तालाब निर्मित किए गए। फिर भी लोगों को वृक्ष के पत्ते, जड़ें या बीज खाने पड़े। उच्च जाति के जो लोग कभी मांस नहीं खाते थे वे भी मांसाहार करने लगे थे। (काठियावाड़ सर्वसंग्रह : पृ. 149)

विशेष बात नहीं है। लेकिन याद रखना कि यदि केवल ऐश्वर्य और प्रताप के कारण ही आप हमें भगवान मानेंगे तो बहुत बड़ी गलती होगी। जीव को अज्ञान के बन्धनों से छुडाकर आत्मारूप बनाकर अक्षरधाम के अधिकारी बनाना यही भगवान की भगवत्ता है। जो हमें माया से पराजित न होने दे तो समझना वह भगवान होंगे या फिर भगवान के साक्षात्कारवाले सन्त।'

महाराज को केवल चमत्कार दिखाने में कोई दिलचस्पी नहीं थी परन्तु ज्ञान और महिमा की सच्ची महत्ता भक्त के हृदय में प्रस्थापित करना ही उनका मुख्य अभिप्राय था। गुजरात के तत्कालीन बन्दरगाह दीव में उन्होंने भगवान के भेषधारी ठग की ठगविद्या का पर्दाफ़ाश किया था। फिर सत्संग सभा में अपनी रुचि और सिद्धान्त को बताते हुए कहा था, 'जो जीव विषय और वासना की पूर्ति के कारण भगवान या बड़े सन्त का वेश धारण करता है और पापीजनों के साथ विषय-भोग करता है, वह घोर नरक को प्राप्त होता है। भगवान तो वह है जो जीवों के देहाभिमान को मिटा दे और उसे शुद्ध ब्रह्मरूप करके परब्रह्म का साक्षात्कार करा दे।'[36]

❖ ❖ ❖

'समाधि' तथा अन्य ऐसे ही चमत्कारों के आवर्तन को देखकर वड़ोदरा राज्य के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ के राज्य-शास्त्री शोभारामजी ने श्रीहरि से निवेदन किया था, 'प्रभु, आप छोटे-छोटे लोगों को बड़े-बड़े चमत्कार दिखाते हैं, किन्तु यदि महाराजा गायकवाड़ के समान बड़ों-बड़ों को छोटा-सा चमत्कार भी दिखा दें और महाराजा के एक सामान्य रोग को मिटा दें तो सत्संग का प्रचार दिन दूना-रात चौगुना बढ़ता जाएगा!'

श्रीहरि ने मंद स्मित करके इतना ही कहा था, 'राजाओं को अपने धन और सत्ता का मद होता है शास्त्रीजी, और हमें त्याग और भक्ति की अलमस्ताई है। ऐश्वर्य का उपयोग छोटे लोगों की सहायता के लिए हमसे सहज हो जाता है, बड़ों-बड़ों के साथ हमारी पटती ही नहीं!' शोभाराम सोचने लगे : 'ठीक ही कहा है भगवान ने! दरिद्र नारायण जो ठहरे!

❖ ❖ ❖

---

36. भगवान स्वामिनारायण : प्रथम संस्करण, १/५०१ तथा ४/७, ले. ह. त्रि. दवे।

वे श्वेतवस्त्र धारी, माणकी घोड़ी पर सवार होकर सरे बाज़ार निकलते तो लोग उनकी सुहानी मूर्ति के आकर्षण में खो जाते। उनकी दृष्टि से करुणा का अमृत बरसता रहता। वे शीघ्रगति से चलते थे उनकी खड़ाऊँ की चटकार से दर्शन करनेवालों के भीतर दिव्य आन्दोलन जाग उठते। हाथ में रुमाल लिए हुए या छड़ी रखते हुए, मोगरे के पुष्प या गुलाब के फूल को मधुर स्मित के साथ सूँघते हुए उनका दर्शन जो भी करता, इस मनोहर मूर्ति के आकर्षण को वह जीवनभर नहीं भूल पाता।

इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंग मौजूद हैं कि जब मात्र कौतूहल के कारण श्रीजी को देखने के लिए पहुँचे कितने ही मुमुक्षु पलभर में संन्यास लेकर उनके आजीवन शिष्य बन गये।

उनकी मनोहारी मूर्ति को देखते ही लोग संसार की आसक्ति भूल जाते। बस, यूँ ही अपने गाँव से गढड़ा आया हुआ एक कविहृदयी युवा रूपशी ने माणकी घोड़ी पर सवार श्रीहरि को सन्तों-भक्तों के संघ के साथ जाते हुए देख लिया था और उसे लगन लग गई और वह, श्रीहरि के पीछे खिंचता चला गया। दूसरे दिन उसने संसार छोड़कर श्रीजी के त्यागीवृन्द में स्थान पा लिया। नाम पड़ा स्वामी भूमानन्दजी! उन्हें आज श्रीजी के आठ मुख्य कवि सन्तों में एक सम्माननीय स्थान मिल चुका हैं।

❖ ❖ ❖

भावनगर प्रान्त का छोटा-सा गाँव है : झींझावदर। एक पठान गाँव के रास्ते से जा रहा था कि उसके भीतर शान्ति की धारा प्रवाहित होने लगी। इस अप्रत्याशित अनुभूति ने उसे भीतर तक झकझोर दिया। शान्ति की वजह ढूँढता हुआ वह उसी गाँव के ठाकुर अलैयाखाचर के दरबार भवन की दहलीज पर आ खड़ा हुआ। भीतर के दृश्य को देखकर वह दिग्मूढ़ रह गया। भगवान स्वामिनारायण भक्तों के साथ सत्संग-सभा में सहजभाव से उपदेश दे रहे थे...। पठान ने आकर कोर्निश बजाई, 'या परवर दिगार!' वह बोलने लगा, 'आप ही हो मेरे मालिक! आप ही खुदा हो! न मुझे अब कहीं पर जाना है, न कहीं सिर झुकाना है! तुम्हारा यही दीदार मेरे दिल में बसा रहे।'

महाराज ने इस भाविक पठान को बहुत आशीर्वाद दिया![37]

37. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/२७३. ले. ह. त्रि. दवे।

जब उत्सव के दिन आते तो, श्रीहरि आकर्षक, गौर शरीर पर रेशमी सुरवाल धारण करते, कभी-कभी रूई का कलात्मक कुरता पहनते, ज़रीदार किनारे की पगड़ी मस्तक पर धारण करते, गुलाब-मोगरे का हार पहनकर उसके कुछ तोरे पाघ में लटकाते। प्रश्न पूछनेवालों पर करुणा दृष्टि से देखते हुए शास्त्रोक्त तथा मौलिक उत्तर मधुर वाणी में सुनाते। कभी-कभी सन्तों के साथ-साथ गाने भी लगते, तो कभी स्व-स्वरूप में तल्लीन होकर ध्यानस्थ बैठ जाते। देखते ही आकर्षण हो जाए ऐसी उनकी निर्मल मुखमुद्रा थी।

केवल तीव्र वैराग्य, आत्म संयम, दिव्य ऐश्वर्य, ब्रह्मचर्य पालन तथा पूर्ण भगवत्ता के द्वारा इस छोटे-से युवा धर्मनेता ने घर-संसार का त्याग करके गुजरात की कैसी कायापलट कर दी! यह विचार आज भी हमें आश्चर्य-मुग्ध बना रहा है।

❖ ❖ ❖

हाँ, राजा-महाराजाओं को शरण में झुकाने की उनकी क्षमता का दर्शन पूरे सौराष्ट्रवासियों को होने लगा था। भावनगर के महाराजा उनके गुणीजन बने थे, जामनगर के महाराजा ने उनके सन्तों से त्याग-वैराग्य का दृष्टान्त देख लिया था, वड़ोदरा के महाराजा सयाजीराव ने श्रीहरि को हाथी पर बिठाकर पूरे नगर में सम्मान किया था। भुज के महाराव के बाद राज्य के तत्कालीन सूत्रधार फत्तेह मुहम्मद को श्रीहरि के स्वरूप में 'परवर-दिगार का दीदार' हुआ था, जूनागढ़ तथा माणावदर के नवाबों के दरबार-भवन में श्रीजी की तथा उनके संत पधारने लगे थे। पूरे गुजरात के गाँव-गाँव में स्वामिनारायणीय 'तिलक-चाँदला' का प्रभाव प्रजा के भीतर स्थापित होने लगा था। अंग्रेजों ने जबसे गुजरात में कदम रखा, प्रत्येक संभाग हर तहसील या जिलों से उनको श्रीजी के क्रान्तदर्शी कार्यों के समाचार मिलने लगे थे। अंग्रेज अधिकारी श्रीजी के आशीर्वाद तथा उनकी भेंट-मुलाकात के लिए हमेशा उत्सुक रहते।

इस नव युवा धर्मनेता की कीर्ति अंग्रेजों से सुनकर कलैक्टर सर डनलाप, मि. हेरन, बिशप रेजिनाल्ड हैबर, पोलिटिकल एजेन्ट तथा गवर्नर सर ज्होन माल्कम आदि उनके साथ चर्चा करने के इच्छुक रहते थे। उनसे भेंट करके पूर्णता की अनुभूति पाते थे! कारण था, उनके व्यक्तित्व में

सिमटा हुआ दिव्यगुणों का संगम!

अहंशून्यता का असर

इतने प्रभाव के बावजूद कहीं-कहीं लोगों के अज्ञान की अँगीठी पर अपनी रोटियाँ सेंकनेवाले बाबा-संन्यासी या ओझे-फ़कीर विरोध की बुंगी बजाने का काम भी किया करते थे। कहीं-कहीं तो ईर्ष्या-द्वेष के कारण श्रीहरि के विरोध के तुच्छ बहाने भी खोज लिए जाते थे परन्तु नम्रता श्रीहरि का स्वभावगत सद्‌गुण था।

गढ़डा में संघ के साथ रास्ते से गुजरते हुए पंचाला के ठाकुर साहब झीणाभाई के छोटे-से पुत्र हठीसिंह ने कहीं थूक दिया। वहीं पर खड़े एक जैन यति पर उसके कुछ छींटे पड़े तो मानो रुई के ढेर में एक चिनगारी भड़क गई! यति के ऊहापोह के कारण तथा अपना भी कुछ विरोध बताने के लिए व्यापारी महाजनों ने पूरे गढ़पुर का बाज़ार अनिश्चित समय के लिए बन्द कर दिया।

जब श्रीहरि को मालूम हुआ कि बात का बतंगड़ बना दिया गया है, तो वे शीघ्रता से उठे और स्वयं चलकर यति के पास पहुँच गए। सरे बाज़ार पार्षद तथा हरिभक्त उनके पीछे दौड़ पड़े, परन्तु श्रीहरि ने सभी को वापस लौटा दिया। अकेले उस यति के उपाश्रय पर पहुँचकर उन्होंने द्वार खटखटाया! भीतर महाजन लोग यति के साथ गर्मागर्म चर्चा में व्यस्त थे। द्वार खुलते ही वे सब सन्न रह गए! स्वयं 'उन लोगों' के भगवान, यहाँ उपस्थित थे।

'आइये!' उस व्यक्ति ने श्रीहरि को भीतर जाने का रास्ता दिया। महाराज के अन्दर आते ही सब स्वतः खड़े हो गये। महाराज ने फौरन हाथ जोड़ दिए और कहा, 'जो भी हुआ है, बुरा हुआ है। हालाँकि बच्चे ने जान-बूझकर तो ऐसा नहीं किया था, फिर भी उसकी भूल के बदले मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ और आपको साष्टांग प्रणिपात करता हूँ!' और ऐसा कहकर महाराज दण्डवत् प्रणाम करने लगे!

सभी स्तब्ध होकर देखते रह गये। किसी की दलील की गुंजाइश ही कहाँ थी? महाराज ने फिर कहा, 'बाज़ार खोल दो महाजन और खुले दिल से हमें क्षमा करो।'

– बस, श्रीहरि की यह अहंशून्यता एक चमत्कार बन गई! यति के विरोध का कोई असर नहीं रहा। पाँच मिनट के बाद दुकानों के ताले खुल गए।

वैर और वैमनस्य की यह पीड़ा उस समय हर प्रान्त, हर जाति, हर सम्प्रदाय हर राजा तथा प्रजा न जाने कब से भुगत रही थी! महाराज ने इसी भेदभाव को मिटाने का अभियान चलाया...। और उन्होंने इसका प्रारम्भ किया स्वयं अपने से!

सहजानन्दरूप सूर्य

पंचाला (जि. जूनागढ़) में भगवान स्वामिनरायण ने फूलदोल का उत्सव धूमधाम से मनाया था। उत्सव के अवसर पर श्रीहरि की आज्ञा से सारे गाँव को भोजन का निमन्त्रण दिया गया। जब सभी भोजन लेकर तृप्त हो गए तो महाराज ने पूछा, 'अब कोई बचा तो नहीं है?'

'नहीं महाराज! कोई बचा नहीं।' व्यवस्थापक सन्तों-भक्तों ने कहा, तब महाराज गाँव के बाहर बहती हुई नदी के किनारे पर खड़े हो गए। सामनेवाले किनारे पर कुछ लोगों की चहल-पहल हो रही थी। दूर से ही मालूम होता था कि वे सब गँवार किस्म के लोग हैं। न उनके शरीर पर पूरे वस्त्र थे, न ही उनके व्यवहार में कोई शिष्टता थी। महाराज ने उन्हें देखकर पूछा, 'वे कौन है?'

'महाराज, जंगल के वाघरी है!'

'उनको भोजन दिया था?'

'नहीं महाराज! ऐसे जंगलियों को?'

महाराज ने उत्तर देनेवाले को बीच में ही टोक दिया, 'हमारे लिए कोई जंगली नहीं है। हर व्यक्ति के भीतर देवत्व का निवास होता है साधुराम, इनकी उपेक्षा मत करो। जब सूर्य निकलता है तो वह पापी तथा पुण्यशाली का भेद देखकर प्रकाश नहीं देता। मेघ बरसता है, तो ऊँच-नीच का भेद देखकर नहीं बरसता। मैं भी सहजानन्द रूप सूर्य उदय हुआ हूँ। हमें तो पृथ्वी के हर व्यक्ति का हित करना हैं, उन्हें बुला लो और स्नेहभाव से भोजन देकर उन्हें तृप्त करो!'

महाराज की इतनी भद्रता और विशालता ही भक्तों के भीतर 'भेद

मिटाने' के बोध को आत्मसात् कराने में काफ़ी थी।

महाराज का आदेश तुरन्त शिरोधार्य हुआ और भरपूर दलितों ने भोजन पाकर महाराज को कोटि-कोटि बधाई दी!

ईश्वर पेटलीकर ने लिखा है, 'स्वामिनारायण मानते थे कि उच्चता के आसन पर बैठनेवालों का धर्म यह है कि उनको निम्न स्तर के लोगों में भी ज्ञान और सदाचार का प्रवर्तन करना चाहिए। जो दूसरे दलितों को ऊँचा न उठाए, तो वैसी उच्चता का अर्थ ही क्या है? स्पर्शमणि को कभी भय नहीं होता कि लोहे के स्पर्श से उसकी पात्रता समाप्त हो जायेगी! सहजानन्द स्वामी कहते रहते कि सन्तो, ब्राह्मणो, गुरुओ! आपकी उच्चता का रंग तब पक्का होगा जब आपके द्वारा अधम से अधम मानव के हृदय में भी आप जैसा रंग भर उठेगा।'[38]

सनातन धर्म के प्रहरी

श्रीहरि ने लाँधणोज में अमीर घर की गँगाबाई का अहंकार से भरा पकवानों का थाल ठुकरा दिया, जब कि अत्यन्त दरिद्र सोनबाई के मोटे चावल के थाल को बड़े स्नेह से स्वीकार किया था। राजमहलों के निमन्त्रण को वे ठुकरा सकते थे, किन्तु सगराम वाधरी तथा रत्ना कुम्हार जैसे छोटे-छोटे लोगों की झुग्गियों को पावन करना उनका स्वभाव था।

महाराज के स्मरण मात्र से न जाने लोगों के मन में कैसी-कैसी समर्पण भावना हिलोरें लेने लगतीं! एक माताश्री ने खेतों में कपास के पौधों से झड़ गए रुई के डोढ़ों को बीनकर उसी से एक वस्त्र का निर्माण किया था। महाराज ने इस वस्त्र को छः मास तक लगातार धारण किये रखा। वस्तुओं की नहीं, उनके लिए सामान्य वस्तुओं के पीछे छिपी हुई बहुमूल्य भावनाओं की कीमत थी।

बस, इसी करुणा के पावनकारी प्रवाह में उन्होंने सभी भेदों को मिटा दिया था। उनके शिष्य-समुदाय में कमढ़िया के सिन्धी कायाभाई थे, तो निंगाला के मियाँजी तथा सरखेज के डोसा मियाँ भी थे। सूरत के नगर-

---

38. श्री स्वामिनारायण अने अद्यतन हिन्दू धर्मप्रवाह (गुजराती) पृ. ६८., ले. ईश्वर पेटलीकर

कोतवाल के पद पर प्रतिष्ठित पारसी बाबा अरदेशरजी थे, तो बोटाद के जैन नगरसेठ भगा दोशी भी थे। गढ़पुर के ख्वाजा हरजी ठक्कर पूरे परिवार के साथ श्रीजी को समर्पित थे, तो तेजा वणकर जैसे हरिजन परिवार के भक्त भी श्रीहरि के धर्म आदेशों का पालन करके संनिष्ठ सत्संगी की तरह जीवन जी रहे थे।

प्रसिद्ध साहित्य सर्जक एवं विचारक ईश्वर पटेलीकर ने ठीक ही लिखा है, 'भगवान स्वामिनारायण वर्णाश्रम की धर्ममर्यादा के पालन के साथ-साथ समग्र हिन्दू समाज के निम्न स्तर के लोगों की आचार शुद्धि तक पहुँचे थे...। हिन्दू धर्म और हिन्दू सम्प्रदायों की एक परम्परा रही थी कि किसी परधर्मी को हिन्दूधर्म में प्रवेश नहीं दिया जाता था परन्तु इस परम्परा में परिवर्तन करके अन्य धर्मियों को हिन्दू धर्म में प्रवेश देने के लिए उन्होंने 'धर्मद्वार' खोल दिए थे। यह कदम उस समय में नितान्त क्रान्तिकारी ही था।'[39]

❖ ❖ ❖

एक दिन महाराज ने अपनी इस विशाल दृष्टि को सहज ही व्यक्त करते हुए कहा, 'अरे, मूलजी सेठ! तुम गणित जानते हो क्या?' मूलजी सेठ ने कहा, 'जी महाराज, व्यापारी हूँ, गणित तो जानता ही हूँ।'

महाराज ने पूछा, 'किस संख्या तक गिनती कर सकते हो?'

'एक के अंक पर सत्रह शून्य लगाने तक गिनती कर सकता हूँ महाराज!' मूलजी ने प्रणाम करते हुए कहा।

तब महाराज बोले, 'मूलजी, हमें तो इससे भी अधिक - अनन्त जीवों का कल्याण करना है। पृथ्वी के हर मुमुक्षु का हित करना है। यदि कोई हमारे सन्तों या हरिभक्तों के सम्पर्क में आ गया, या उनको किसी ने पानी पिलाया, या उनके हाथों से पानी पी लिया, उनको भोजन कराया या उनके हाथों भोजन पा लिया - इतना सा सम्पर्क भी हो गया तो हमें उनका हित करना है, उनका आत्यन्तिक कल्याण करना है!'

सारी पृथ्वी के मनुष्य उनकी कल्याण-भावना के आगोश में सिमटकर रह गए थे, इस विशालता को मूलजी दिग्मूढ़ होकर सुनते रहे।

---

39. श्री स्वामिनारायण अने अद्यतन हिन्दू धर्मप्रवाह (गुजराती) पृ. १०१, ले. ईश्वर पेटलीकर

सामाजिक समस्याओं में सहयोगी

दीन-दु:खियों की पीड़ा उनकी स्वयं की पीड़ा बन जाती। उन्होंने देखा था कि गुजरात की धरती पर आए दिन अकाल का सामना करना पड़ता था। सेर भर अनाज के लिए कभी-कभी सन्तों को भिक्षा की झोली फैलाकर आठ-आठ दिन तक एक गाँव से दूसरे गाँव भटकना पड़ता था।

श्रीहरि ने सोचा कि इतनी गरीबी और इतने जरुरतमंद लोगों को सहायरूप होने के लिए केवल सदाव्रत के जरिए मुफ़्त अनाज देने मात्र से समस्या नहीं टलेगी, इसके लिए प्रजा की श्रम-शक्ति बढ़ानी होगी, पानी और पुरुषार्थ दोनों की महिमा से सबको अवगत कराना होगा। उन्होंने इस अभियान का आरम्भ कारियाणी गाँव में विशाल तालाब खुदवाने से किया।

वे स्वयं कुदाल लेकर तालाब खोदने के लिए उतर पड़े थे। श्रीहरि को सेवा में रत देखते ही सारे सत्संग से, गाँव की गली-गली से लोग अपने-अपने फ़ावडे, कुदाल तथा तग़ारा लेकर गाँव की सीमा पर इकट्ठे हो गये। दिन-रात तालाब का काम लगातार चलता रहता। आखिर गाँव में बारिश के बाद छलछलाते हुए तालाब को गाँव के लोगों ने देखा तो सब हर्ष-पुलकित हो गए। उनकी सालों पुरानी प्यास बुझने लगी, सूखी धरती फसलों से लहलहाने लगी और सुख की लालिमा हर व्यक्ति के चेहरे पर लौटने लगी।

कुएँ-तालाब खुदवाना, मन्दिर-निर्माण के लिए सिर पर पत्थर उठाकर ले आना, सन्तों की पंक्ति में भोजन परोसना आदि अनेक क्रिया वे स्वयं करने लगते, तो एक धर्मनेता को इस 'सेवक' के रूप में देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य होता, किन्तु इसी कारण उनकी छवि लोगों के हृदय में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगी। दिन हो या रात, लोग सहायता के लिए उनका नाम पुकारते रहते और श्रीहरि भी हृदय से निकली किसी की भी पुकार सुनकर नंगे पाँव दौड़े चले आते।

❖ ❖ ❖

मांगरोल में तो उन्होंने नवाब बदरुद्दीन के पास हरिभक्तों को भेजकर पूरे शहर के पानी की समस्या के लिए विचार विमर्श करवाया था। आखिर-नवाब ने समाज की समस्याओं पर गौर करते हुए श्रीहरि को

सूचना भेजी कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं गाँव में बड़ी-सी बावड़ी का निर्माण आज से ही प्रारम्भ करवा दूँ? महाराज ने उनको मना करके सिर्फ़ इतना ही सन्देश भेजा, 'हमें केवल आपकी सहमति की आवश्यकता है, न कि सहयोग की। बावड़ी खुदवाने का श्रम हमारे हरिभक्त और सन्तवृंद ही करेंगे, जिससे समाज की ओर उनका जो कर्त्तव्य है उसका पालन हो सके। हम मानते हैं कि समाज के हित में श्रम करना ही भक्ति है।'

नवाब श्रीहरि की इस भावना पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बावड़ी के निर्माण की सहमति सहर्ष दे दी। आज भी यह बावड़ी श्रीहरि की करुणा का प्रतीक बनकर हमें समाज-सेवा की प्रेरणा देती है।

श्रीहरि हमेशा सन्तों से कहते रहते, 'हे सन्तो, यदि लोगों के अन्तःकरण को जीतना है, तो हम केवल श्रम के माध्यम से ही जीत सकते हैं। कुएँ, तालाब खुदवाना या बावड़ियों का निर्माण करवाना, आदि जलपूर्ति के साधन ही नहीं होते, यह तो श्रमतीर्थ बन जाएँगे। मैं भी आपके कर्मयोग में सहयोगी बनूँगा। क्योंकि हम तो लोकसेवक हैं, अतः कदापि यह मत सोचना कि हम तो लोगों के 'स्वामी' हैं। सच तो यह है कि हम तो सबके सेवक ही हैं।'[40]

❖ ❖ ❖

सारंगपुर की एक घटना है। मेघ ने मानो तांडव मचा दिया था। पूरा गाँव पानी के बीच घिरा हुआ द्वीप-सा बन गया था। कच्चे घरों की दीवारें एक के बाद एक गिरने लगी थीं। भगवान स्वामिनारायण, देवाखाचर के पक्के मकान में लेटे हुए, आँखें मूँदकर कुछ सोच रहे थे। आधी रात का समय था। बारिश रुकने का नाम नहीं ले रही थी। लगातार प्रलय मचानेवाली गड़गड़ाहट सुनाई देती थी। पूरा गाँव स्वयं को बचाने के लिए अपनी-अपनी गत में उलझा हुआ था। अचानक देवाजी पटेल के घर की बँड़ेर[41] टूट पड़ी! धड़ाम सी आवाज़ हुई और पटेल के मवेशी चीत्कार मचाकर बंधे हुए खूँटों से छूटने के लिए छटपटाने लगे। पूरा घर शनैः शनैः नीचे आ रहा था, अपनी पत्नी और बच्चे की मौत की आशंका से देवाजी ने हृदय विदारक चीख

---

40. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, १/४८६-४८७. ले. ह. त्रि. दवे।
41. छाजन के बीचों बीच लगाया जानेवाला बल्ला. जिस पर छप्पर के ठाट का बोझ रहता है।

लगाई, 'बचाओ! हे सहजानन्द, हे हरि! हे प्रभु! मुझे बचा लो!'

बिजली की चमक और बादलों की भयानक गड़गड़ाहट के बीच इस भक्त की पुकार श्रीजी के कानों तक पहुँच गई। वे फौरन उठे। नंगे पाँव ही खिड़की से कूद पड़े। दौड़ते हुए बिजली की चमक में गिरते मकान को देख लिया और हाथ ऊँचा करके गिरती हुए बँड़ेर को अपने कंधे पर उठा लिया। पूरा परिवार और सारे मेवेशी बच गये। रात के घने अन्धकार में देवाजी ने सोचा कि कहीं बँड़ेर अटक गया है। परन्तु सब जब तक सुरक्षित रूप से निकल न गये तब तक लगभग 3 घंटे तक श्रीहरि ने अपने कन्धे पर घर के बोझ को उठाये रखा।

उनकी करुणा और वात्सल्य ने ऐसे कई परिवारों की बँड़ेरें अपने कन्धे पर इस तरह उठाये रखीं कि कभी किसी को पता भी न चलता और न जाने कहां से उस परिवार में सुख की गंगा बहने लगती।

भगवान स्वामिनारायण ने करुणा की इसी धारा को प्रवाहित रखने के लिए श्रमदान तथा कर्मयोग की भावनाओं को सहस्त्रों लोगों के भीतर उजागर किया। कीचड़ से सने हुए शरीरों को देखकर वे सेवा की महिमा बताते हुए कहा करते कि यह कोई कीचड़ नहीं है, यह तो शरीर पर अर्चन किया हुआ चन्दन है।

संघे शक्तिः

न जाने उनके व्यक्तित्व में कौन-सा जादू था कि वे केवल आदेश करते, कि पूरा समाज उसी दिशा की ओर चल पड़ता था। समूह का इतना भारी उत्कर्ष बिना सुविधा, बिना ट्रान्सपोर्ट, बिना कम्यूनिकेशन के उन्होंने किस प्रकार किया होगा? इस प्रश्न का उत्तर मिलता है संघ-भावना के निर्माण में, तथा उनके स्वयं के व्यक्तित्व के अनुपम आकर्षण में।

इतिहासविद् जार्ज हेनरी ब्रिग्स ने लिखा है, 'स्वामी सहजानन्दजी को उनके शिष्य इतनी हद तक चाहते थे कि उसकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता। उनके शिष्यों में जागीरदार थे, धनवान थे, गरीब थे, अशिक्षित थे - फिर भी उन सभी ने अपने इस तारणहार के लिए अपना जीवन कुरबान कर दिया था! उनका उत्तम आकर्षण यही था कि वे अपने अनुयायियों को उच्च

नैतिक आचार की ओर चलते रहने की प्रेरणा देते थे!'[42]

बस, उसी प्रेरणा के तहत पूरे सत्संग-समाज में 'एक-परिवार' की भावना सुदृढ़ होने लगी। श्रीहरि इसी भावना को आदर्श के रूप में ही नहीं, व्यावहारिक तौर पर भी अपने शिष्यों में सुदृढ़ करते रहते थे।

एक दिन की बात है। भगवान स्वामिनारायण संघ के साथ माणावदर गाँव से गुजर रहे थे। उन्हें माणावदर होकर वरताल के एक बड़े उत्सव में भाग लेना था। माणावदर के भक्तराज मयाराम भट्ट से श्रीजीमहाराज ने कहा, 'क्यों भट्टजी! हमारे साथ उत्सव मनाने के लिए वरताल नहीं चलोगे?' भट्टजी ने अपनी समस्या बताई, 'महाराज! खेती की कटाई भी तो बाक़ी है। आज ही जाना कैसे सम्भव होगा?'

महाराज ने मौका देखा और पलभर में कुछ सोचकर हरिभक्तों से कहा, 'क्या आप लोग इनकी फ़सल की कटाई में हाथ बँटा सकते हैं?'

'क्यों नहीं महाराज! ये भी तो हमारे ही हैं!' हरिभक्तों ने सहज ही कहा। महाराज ने तुरन्त पचास-साठ घरों से दतिये मंगवाए, देखते ही देखते पूरे खेत की फ़सल काट ली गई। सारा बाजरा मयाराम भट्ट के घर पहुँचाया गया, और वे बिना चिन्ता के श्रीहरि के संघ में विचरण करने के लिए जुड़ गए।

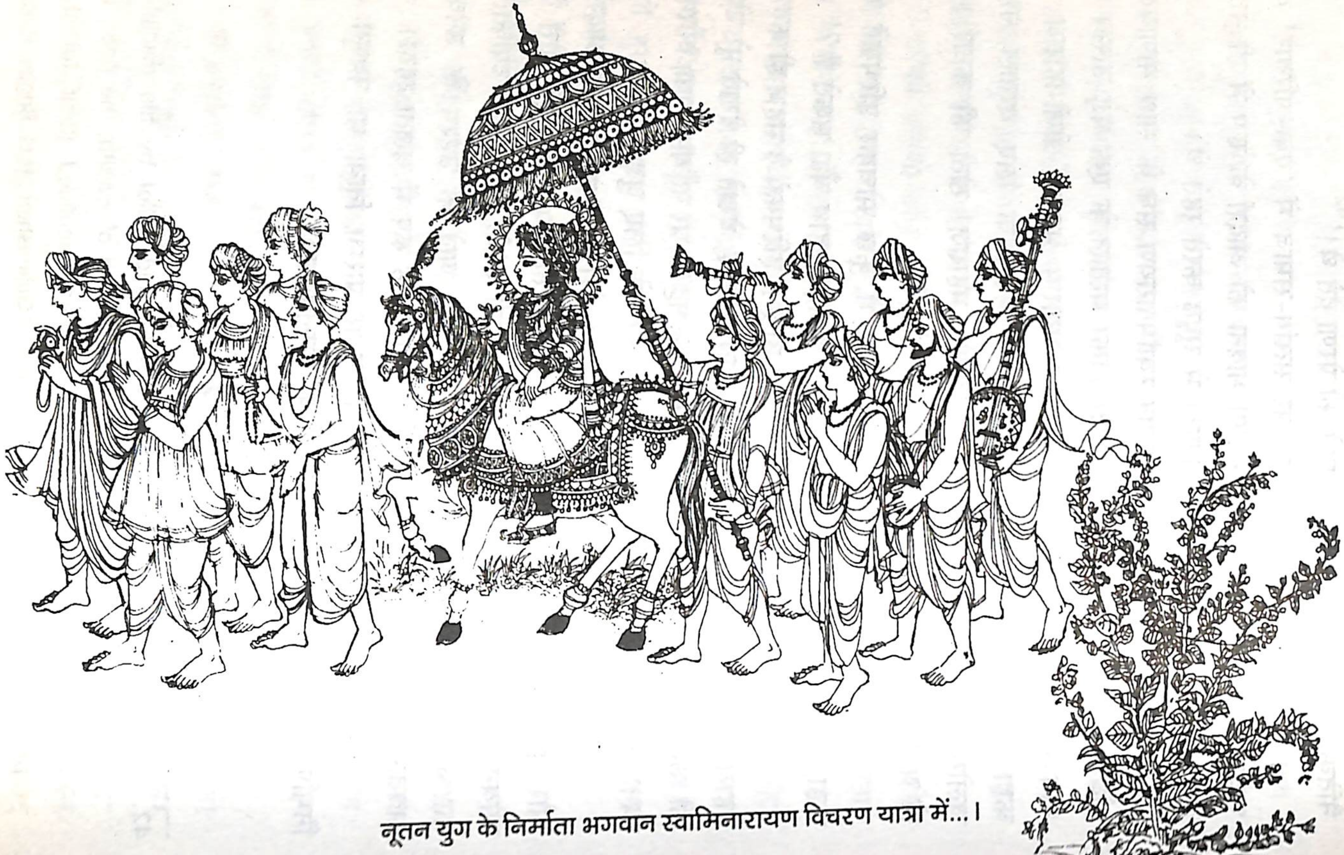
आत्मीयता, सुहृद्भाव या संघ भावना जैसे शब्द उनके लिए आदर्शों और मूल्यों के मोहरे मात्र नहीं थे वे जीते थे, तो संघ भावना को औरों के जीवन की जीवनशैली बना देते थे। बस, यही उनके पारलौकिक व्यक्तित्व का जादू था। बिना किसी के हृदय पर छा जाने के उद्देश्य के उनकी अवतारी शक्ति का अवतरण एक दिव्य प्रवाह के रूप में चलता रहता।

उन्होंने इसी मुद्रा आकर्षण के सहारे प्रारम्भ किया था नवयुग के निर्माण के लिए क्रान्तिसृजक कार्यों का सिलसिला।

❀ ✿ ❀

---

42. "(Swami) Sahajanand was loved beyond belief by his disciples, comprising men of talents, of station, and of wealth; the poor, the ignorant, the rude, who would have sacrificed itself for their preceptor. - Cities of Gujarashtra : H.G. Briggs, P. 239.



नूतन युग के निर्माता भगवान स्वामिनारायण विचरण यात्रा में...।

सन्त शक्ति : नवयुग के निर्माण का उत्तम आयाम

विश्व में केवल भारत ही ऐसा राष्ट्र है, जहाँ 'त्याग' जैसा कोई शब्द है, और 'त्याग करके उपभोग करना' जैसी उपनिषद् की अवधारणा है : *'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।'*

भारतीय त्याग-परम्परा कोई अकर्मण्यता का पर्यायवाची नाम नहीं है। शुद्ध आचारनिष्ठा, व्यवहारनिष्ठा तथा अध्यात्मनिष्ठा के साथ-साथ कर्मनिष्ठा के द्वारा समाज के प्रत्येक अंग को परिमार्जित एवं परिपुष्ट रखने में हमारे ऋषियों और सन्त-महात्माओं का अद्‌भुत योगदान है।

भगवान स्वामिनारायण की पैनी निरीक्षण शक्ति के कारण ही वे अपने दीक्षित सन्त समुदाय को अनेक प्रकार के दूषणों के प्रभाव से दूर रख सके थे। उन्हीं की योजक-क्षमता के कारण आज भी सम्प्रदाय का सन्त-वृन्द तेजस्वी, शीलवंत, कर्मनिष्ठ एवं समाज के सुख-दुःख के साथ सरोकार रखते हुए सेवामय जीवन जीने से अपना अलग प्रभाव छोड़ता रहता है।

भगवान स्वामिनारायण ने धर्मधुरा धारण करने के बाद सर्वप्रथम

कार्य किया, अपने सन्तों को सर्वतोमुखी प्रतिभावंत बनाने के लिए प्रशिक्षण देने का। संस्कृत, संगीत, भाषा तथा कला में एक से बढ़कर एक अद्‌भुत सन्तों की शृंखला, उनके आसपास इस प्रकार शोभायमान रहती थी, जिस प्रकार चन्द्रमा के चारों ओर नक्षत्रों की तेजमाला दृश्यमान रहती है!

लोज गाँव में एक दिन महाराज ने विचरण के विषय में विवरण सुना। विचरण के कष्टों से सन्तों की आँखों में आँसू झिलमिलाने लगे। फिर धीरे से कष्टों की कहानी सुनाने लगे, 'महाराज, आजकल बाबा-वैरागियों को लोगों की केवल उपेक्षा ही नहीं झेलनी पड़ती, वे हमें भयंकर त्रास के शिकार बनाते हैं। हमारे पात्र, तुम्बी या पूजा सामग्री को तोड़-फोड़ कर फेंक देते हैं। हमारी यज्ञोपवीत तथा शिखा काट लेते हैं। सदाव्रतों से या गाँव के सज्जनों से मिली भिक्षा-आटा, गेहूँ या दाल इत्यादि लूट लेते हैं।'

महाराज भी यह सुनकर गहरी उदासी में डूब गए। फिर धीरे से कहा, 'साधुराम! इतना समझकर दु:ख झेलते रहो कि पृथ्वी पर किसी को जो सुख नहीं मिला है, वो परमात्मा का सुख तुम्हें मिला है। दु:ख, कष्ट या पीड़ा से जो पराजित हो वह साधु नहीं है। हमें तो साधु रहना है। अत: उन सब द्वेषियों के साथ क्षमा का ही व्यवहार करना।'[43]

त्यागियों को परमहंस दीक्षा

कालवाणी गाँव में भी उन्होंने सन्तों से एक शिकायत सुनी, 'महाराज, आपकी आज्ञा से गाँव-गाँव लोगों को परिशुद्ध जीवन जीने की प्रेरणा देने के लिए जाते हैं, किन्तु न जाने क्यों, गाँव के मन्दिर के महन्त या गाँव के कोई वैरागी बाबा हमें देखते ही उठकर खड़े हो जाते हैं। ऐसी ऐसी घुड़कियाँ सुनाते हैं कि केवल आपकी कृपा से ही सहन कर सकते हैं और महाराज, आए दिन अपमान, तिरस्कार ही नहीं, मार-पीट तो सहन करते ही रहते हैं। लोग वैरागियों की सलाह से भिक्षान्न की झोलियों में जलते अंगारे डाल देते हैं, तो मिली हुई भिक्षा भी जलकर राख हो जाती है। ठाकुरजी की मूर्तियाँ उठाकर पटक देते हैं। कभी कभार तो हमारे ब्रह्मचर्य के नियमों की हँसी उड़ाने के लिए छोटी-छोटी लड़कियों को या

43. भगवान स्वामिनाराधग : प्रथम संस्करण, १/५६७: ले. ह. त्रि. ध्वे।

मलिन आचारवाली स्त्रियों को हमारे पीछे दौड़ाकर गाँवों से बाहर निकलने पर बाध्य करते हैं। न कोई चैन की नींद सोने देता है, न कोई शान्त मन से भजन करने देता है। ऐसे विरोध के वातावरण में हम लोक-सुधार के कौन से कार्यक्रम सफलता के किनारे पर लगा सकेंगे?'

महाराज ने इन निःस्वार्थ, कर्मनिष्ठ, ब्रह्मचर्य के तेज से सम्पन्न और बलिदान की इच्छा रखनेवाले सन्तों के भीतर घुमड़नेवाली कल्याण-भावना को परखा और सोचा कि आखिर कौन-सा द्वेष वैरागियों के मन को इस कदर जलाता रहता है? ये लोग संसार को छोड़ने के बावजूद भी भाँग, गाँज़ा या अफ़ीम छोड़ नहीं पाते, परिवार को तो इन्होंने छोड़ दिया है, परन्तु रात-दिन शिष्याओं का संग तथा व्यभिचार की भावना को छोड़ नहीं पाये हैं। जब हमारे पवित्र सन्त-समाज को व्यसनमुक्त करते हैं और बुराइयों को छुड़ाकर सदाचरण की ओर प्रेरित करते हैं, तो इन बाबा-वैरागियों का मन क्यों नहीं जलेगा? वैसे भी वे लोग समझते हैं कि स्वामिनारायण एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ है और स्वामिनारायण के सन्त हमारे पुराने शिष्यों को अपने शिष्य बना लेते हैं। यद्यपि सन्तों के मन में सदाचार-प्रवर्तन के सिवा अन्य भावना नहीं है, फिर भी वैरागियों के त्रास से हमारे सन्तों की रक्षा करनी ही पड़ेगी। इसी कारण अब हम सन्तों को परमहंस की दीक्षा देंगे, ताकि न उनको शिखा की आवश्यकता रहेगी, न सूत्र की। वे हर किसी के घर का पका हुआ अन्न खा सकेंगे, मूर्ति के बदले में मानस पूजा के द्वारा भगवान की भक्ति करते रहेंगे। जिससे मेरे पवित्र सन्तों को प्रतिदिन उपवास करने के कष्ट से तो छुटकारा मिल सके?

इस निर्णय के बाद उन्होंने कालवाणी गाँव में 500 सन्तों को एक ही दिन में परमहंस दीक्षा देकर विकटतम परिस्थितियों में भी समाज-सुधार के कार्य में लगे रहने का अद्भुत उपदेश दिया।

समर्थ सन्त-माल

सामर्थ्य और साधुता का समन्वय इन सन्तों की विशेषता थी। कला, संगीत और विद्वत्ता के साथ ऐश्वर्य दर्शन, भगवन्निष्ठा और शुद्ध चरित्र-बल का तेज उनकी धरोहर थी। इष्टनिष्ठा और धर्मनिष्ठा उनके उत्साह और

लोक-कल्याण की भावना का माध्यम था!

इसी कारण भगवान स्वामिनारायण की भेंट के समय ईसाई धर्मप्रचारक रेवरन्ड रेजिनाल्ड बिशप हेबर के मन में कुछ पलों के लिए हताशा छा गई थी। अपने लेख में उन्होंने लिखा था, 'काश, मेरे पास भी ऐसी साधु-मंडली होती!'

कैसी अद्‌भुत मंडली थी भगवान स्वामिनारायण के पास? इन लोक-सेवकों की त्यागमयी परम्परा के भूषण रूप सन्तों की विशेषता कौन सी थी?

सम्प्रदाय के वरिष्ठ सन्त गोपालानन्द स्वामी ने अष्टांगयोग सिद्ध किया था। उन्होंने एक अवसर पर सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी की गति को रोककर पूरा ग्रहण एक माह तक दूर ढकेल दिया था!

एक बार धंधुका के समीप सुन्दरियाणा गाँव के अग्रणी वैष्णव एवं प्रसिद्ध वैद्यराज हिमराज शाह को उन्होंने ऐसा ऐश्वर्य दिखाया था कि गोपालानन्द स्वामी की बीमारी सुनकर चिकित्सा के लिए आये हिमराज शाह ने जब स्वामी की नाड़ी टटोलने का प्रयास किया, तो नाड़ी के संचार का अनुभव न उनके हाथ में हुआ और न ही पैर में! फिर तो नाड़ी के आठों स्थान की उन्होंने जाँच की किन्तु जब नाड़ी की धड़कन को पकड़ने में पूरी तरह निष्फल हुए, तो हँसते हुए स्वामी ने पूछा था, 'क्या हुआ, सेठ! नाड़ी नहीं मिलती है क्या?' और सेठ ने नाड़ियों को स्व-वश रखनेवाले इस योगीन्द्र सन्त गोपालानन्द स्वामी के चरणों में अपना सिर टेक दिया था।

केवल दया के कारण स्वामी व्यापकानन्दजी ने बोटाद गाँव के ठाकुर हमीर खाचर की मृत घोड़ी को जीवनदान दिया था। सबके देखते ही देखते मच्छर का जीव निकालकर घोड़ी की देह में डाल देना कोई साधारण योगी का काम नहीं होता।

अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी ने मेहमदाबाद में शुष्क वेदान्ती पंडितों को बिना कोई शास्त्र-चर्चा किए केवल एक ही प्रश्न पर पराजित कर दिया था! प्रश्न था : ब्रह्म चैतन्य होता है तथा व्यापक भी होता है! यदि आप 'अहं ब्रह्मास्मि' वेद-सूत्र के अनुसार स्वयं को ब्रह्म समझते हो तो

इस धर्मशाला के जड़ स्तंभों में प्रवेश करो, इनके कण-कण में व्याप्त होकर दिखाओ।'

पंडितों ने इस विषय में असमर्थता दिखाई तो स्वयं गुणातीतानन्द स्वामी ने धर्मशाला के जड़ काष्ट-स्तंभों को जीवंत बनाकर इस प्रकार कंपायमान किया कि पूरी सभा हड़बड़ा कर भागने के लिए तैयार हो गई।

इतने समर्थ सन्तों ने अपने ऐश्वर्य-प्रताप का उपयोग किया था, मात्र लोक-सेवा के लिए। सहनशीलता उनका आभूषण था, साधुता उनकी जीवन-शैली थी, पराभक्ति उनकी साधना थी और आज्ञापालन उनका ध्येय मन्त्र था।

तपोमय जीवन के लिए आदेश पत्र

सन्तों की भक्ति के साथ-साथ भगवान स्वामिनारायण का वशीकरण कितना अद्‌भुत रहा होगा कि उन्होंने जो-जो आदेश दिए, परमहंसों ने उसी के अनुसार तपोमय जीवन को आत्मसात् कर दिखाया।

सन् 1806 के भाद्रपद माह की वद एकादशी के दिन उन्होंने अपने परमहंसों को एक अनूठा आदेश-पत्र लिख भेजा जो कि गुरु-शिष्य परम्परा में एक ऐतिहासिक आदेशपत्र ही कहा जाएगा।

भगवान स्वामिनारायण ने इस पत्र में इस प्रकार आदेश दिया था :

'किसी भी परमहंस को छप्परवाले मकान में निवास नहीं करना। गाँव के बाहर देवालय में या किसी उपवन में रात्रि निवास करना। वह भी ऐसा स्थान होना चाहिए कि जहाँ न स्त्रियों की चहल-पहल हो, न संसारिक व्यवहार की गपशप हो। जब भी भिक्षा के लिए गाँव में जाना हो तो लोगों के साथ केवल परमात्मा की ही बात करते रहना तथा धर्मोपदेश केवल निःस्वार्थभाव से ही करना। जो भिक्षा बिना माँगे मिलती है, वह अमृत के समान होती है। हमारे परमहंसों को हमारा आदेश है कि वे एक दिन में एक बार ही भिक्षान्न ग्रहण करें। वह भी सभी भिक्षान्न पानी में डुबोकर उसको स्वादहीन गोला बनाकर भोजन करें...। किसी को सोने के लिए बिस्तर बिछाने के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। भूमि पर सोने की ही हमारी आज्ञा है। प्रतिपल अपनी वृत्ति को अंतर्मुख रखकर आत्मा का स्मरण ही करते रहना।

अन्य विषयों की बातों का त्याग ही हमारी शोभा है। स्त्री का दर्शन न करना हमारा मुख्य नियम है, कदाचित् दर्शन हो गया तो उस दिन निर्जल उपवास करना। यदि अनजान में स्त्री का स्पर्श हो गया हो तो उपवास करके प्रायश्चित कर लेना...। काम-दोष को जीतने के लिए सिद्धासन करना तथा अपान वायु को भी वश में करना। ग्रीष्म में धूप, सर्दी में ठंड तथा वर्षाऋतु में वर्षा सहन करना एवं सत्संग प्रचार के लिए घूमते रहना। समय मिलते ही स्वामिनारायण मन्त्र का जप करते रहने की हमारे परमहंसों को हमारी आज्ञा है। मांस-मछली का त्याग रखना तथा शराब, अफ़ीम एवं तम्बाकू जैसी मादक तथा विनाशक चीज़ों से अत्यन्त परहेज रखना।'

सहजानन्द स्वामी सन्तों को कसौटी की इस आग में डालकर उनको स्वर्ण सी कान्ति प्रदान करते थे ताकि वे इस आग में अपना जीवन आहूति की भाँति समर्पित कर सकें।[44]

❖ ❖ ❖

पहली ही बार सन्त-मंडल का शेत्रुंजी नदी के किनारे पर जूना सावर गाँव में आगमन हुआ था। सन्तों के आते ही गाँव के खूंखार ठाकुर उगा खुमाण को खबर पहुँच गई : स्वामिनारायण के मुंडिये गाँव को बिगाड़ने के लिए आ पहुँचे हैं। उगा खुमाण ने तिलमिलाकर अपने लठैतों को आदेश दे दिया : 'पीटो उन मुंडियों को! पकड़-पकड़ कर ऐसी धुनाई करो कि सारा जनम इस गाँव को और हमारे दण्ड को याद करें!' लठैतों ने आकर साधुओं की एक-एक करके जमकर पिटाई की। कई सन्तों के सिर फूटे, कितनों के वस्त्र फटकर बेहाल हो गए, कोई मुँह के बल गिरा, किसी की कंठियाँ तोड़ दी गई! पकाने के लिए चूल्हे पर रखी गई खिचड़ी को भी लात मारकर गिरा दिया गया। लगातार लाठियों के साथ गालियाँ भी बरस रही थी।

सन्तों ने एक दूसरे के सहारे गाँव से बाहर जाने का मार्ग पकड़ लिया। अभी बैठे ही थे कि गाँव की ओर से आए दो सज्जन आपस में बतियाते वहीं से जा रहे थे। एक ने कहा, 'ऐसा कहर ढानेवाले से तो भगवान बचाएँ भाई!' दूसरे ने कहा, 'भगवान ने ठीक ही किया है कि इस

---

44. स्वामी सहजानन्द, सम्पादक : एम. एल. भालजा। पृ. २९-३०।

ठाकुर को कोई पुत्र ही नहीं दिया। ऐसे शैतानों की औलाद भी तो शैतानों से कम नहीं होती।'

अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी के कान तक ये शब्द पहुँच गए, उन्होंने तुरन्त सन्तों से कहा, 'सुना आपने? आज हमें भगवान के श्रीचरणों में प्रार्थना करनी है कि इस द्वेषी ठाकुर के घर ऐसे भक्तराज का जन्म हो कि वह सत्संगी होकर हमें अपने घर ले जाने का निमन्त्रण देने आए।'

सभी सन्त इस महान सन्त के क्षमाभाव और परहित-चिन्तन पर आश्चर्यमुग्ध हो गए। सन्तों ने प्रभु के चरणों में उगा खुमाण के लिए प्रार्थना की। इस बात को आठ-नौ साल बीत चुके थे। स्वामीश्री के संकल्पानुसार उस अधम उपद्रवी के घर दूसरे ही साल बालभक्त का जन्म हो गया। स्वामीश्री जब नौ साल के बाद इस गाँव में पधारे तो आठ साल का तेजस्वी बालक बच्चों के साथ खेल रहा था। सन्तों को देखते ही पूर्वजन्म की प्रीत मानो उमड़ पड़ी। वह सन्तों को अपने घर लाया। स्वामीश्री ने यहाँ मृत्यु-शय्या पर पडे उगा खुमाण को देखा और धीरे से उस मनहूस दिन का स्मरण दिलाया। वह 'पुत्र-प्राप्ति के आशीर्वाद' की घटना सुनकर गद्‌गद हो गया। स्वामी ने द्वेषी के द्वेष का जवाब आशीर्वाद से दिया। शाप के बजाय साधुता तथा उसके शाश्वत हित के चिन्तन से दिया था।

❖ ❖ ❖

ब्रह्मानन्द स्वामी और सन्त-वृन्द एकबार ऐसे ही क्रूर वैरागियों के हाथ एक हादसे के शिकार बने। लहुलुहान सन्तों को देखकर ब्रह्मानन्द स्वामी स्तब्ध खड़े रह गए। ठीक उसी समय एक वैरागी अपनी तलवार वहीं छोड़कर कुएँ पर पानी निकालने पहुँच गया। ब्रह्मानन्द स्वामी ने उसे बुलाकर कहा, 'बाबा, भविष्य में ऐसी भूल कभी मत करना। तुमने जिन सन्तों को इतनी बुरी तरह पीटा है, वे केवल क्षमाभाव की आज्ञा के कारण सहन करते चले आये हैं, वरना इनमें से कितने ही ऐसे क्षत्रिय हैं जो युद्ध की हर कला में प्रवीण है, यदि तुम्हारी ही तलवार लेकर तुम पर झपट पड़ेंगे तो लेने के देने पड़ जायेंगे!'

वैरागी सकपकाकर वहाँ से भाग खड़ा हुआ। इन सन्तों की अद्‌भुत क्षमा-भावना के समाचारों का उल्लेख अंग्रेजों की तत्कालीन जर्नल्स में भी

किया हैं : 'वैरागियों के झुण्ड के झुण्ड उन दिनों गाँव-गाँव में कहर बरसाते घूमते रहते थे। वे सब भगवान स्वामिनारायण के शिष्यों की शान्तिप्रियता एवं साधुता का विपरीत रूप से लाभ उठाते थे, कभी-कभार निर्दयता से पीटते भी थे, लेकिन ऐसी घटनाओं का प्रतिकार हुआ हो, ऐसा स्वामिनारायणीय सन्तों द्वारा कभी नहीं हुआ!'[45]

स्वामी आधारानन्दजी लिखित विराट् चरित्र ग्रंथ 'हरिचरित्रामृत सागर' के अनुसार भगवान स्वामिनारायण के दीक्षित सन्तों की संख्या तो तीन हज़ार थी किन्तु आज उनमें से मात्र 918 सन्तों के नामों का उल्लेख ही मिल पाता है। इसका अर्थ यह है कि असंख्य सन्त क्रूर वैरागियों के क्रोध के शिकार हो गए, कितनों को द्वेषियों के ईर्ष्या-द्वेष के कारण अपने प्राण गँवाने पड़े। इतने निर्दय अत्याचार के बाद भी इन क्षमामूर्ति सन्तों की कल्याण गंगा ने कभी अपने वेग को मंद नहीं होने दिया!

सन्त ही सही, धर्म के सिंह भी !

एक दिन आनन्द स्वामी ने भी महाराज के पूछने से अपनी आपबीती सुनाई, 'महाराज! जब हम वीसलनगर पहुँचे तो वैरागियों ने हमें घेर लिया और पूछने लगे कि 'तुम सब स्वामिनारायण के मुंडिए हमारे चेलों को सत्संगी क्यों बना देते हो? उनको गाँज़ा-भांग पीने या किसी को देने से मना क्यों करते हो?'

'हम उनको कुछ समझायें इससे पहले वे सभी मिलकर हमारी भारी पिटाई करने लगते हैं। जब ध्रांगध्रा गाँव में स्वामी अद्वैतानन्दजी ने ऐसे ही मौके पर द्वेषी वैरागियों पर रोष किया, तब मैंने उनको रोककर इतना ही कहा था, 'साधुराम! महाराज की आज्ञा है कि हमें हमारा साधु-धर्म नहीं छोड़ना है।'

---

45. "The various orders of religious mendicants used to take ample advantage of the peaceful professions of his disciples by beating them sometimes unmercifully but no instance ever occured of this violence being resisted."
- Asiatic Journal, London. (1823) XV - P. 348-349.

महाराज इन सन्तों की कष्ट-साधनाओं को तथा सहिष्णुता को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे, 'आप धन्य हैं स्वामी। हमने सुना है कि ऐसे जड़ वैरागी हमारे सदाव्रत के केन्द्रों को तहस-नहस करने का आयोजन कर चुके हैं, लेकिन आज से हम हमारे सदाव्रत केन्द्रों को वैरागियों के त्रास के कारण बन्द करते हैं। अब आप सब एक साथ गाँव-गाँव घूमने के लिए निकल पड़ें। हर खेत, हर झोंपड़ी आपके कल्याणकारी कार्यों का लक्ष्य होगा। लोगों को धर्म तथा सदाचार के रास्ते पर ले जाना तथा समाज को शुद्धि देना आपका कर्त्तव्य होगा।' सन्तों ने श्रीहरि का यह आदेश शिरोधार्य किया और गाँव-गाँव घूमने के लिए निकल पड़े।[46]

❖ ❖ ❖

भगवान स्वामिनारायण के सन्तों ने स्त्री-धन के बन्धनों को इतनी सहजता से काट लिया था कि जैसे खुले पवन में कपूर हवा हो जाता है।

स्वामी गोविन्दानन्दजी से राजा की एक रूपवती दासी ने दस हज़ार रुपयों तथा गहनों के साथ जीवनभर का साथ निभाने का वादा किया था, लेकिन वे अपने उत्तरीय को उस स्त्री को सौंपते हुए घने जंगलों की ओर अदृश्य हो गए...। उस स्त्री से उन्होंने पलभर में पिंड छुड़ा लिया था।

स्वामी वासुदेवानन्दजी ने ग्रन्थ लिखते हुए अचानक ऊपर देख लिया तो दादाखाचर के दरबार भवन के खपरैल पर उनकी दृष्टि पड़ गई। नाचते हुए मोर के लहराते हुए पंख में उनको स्त्री के वस्त्र का भ्रम हो गया। उन्होंने उस दिन निर्जल उपवास का व्रत पूर्ण किया।

हाँ, व्रत-नियम में प्रत्येक सन्त पहाड़ की भाँति अचल रहते थे। साधुता उनके व्यक्तित्व से सुगंध की भाँति फैलती रहती थी।

सत्संग प्रवर्तन के लिए सन्त-वृन्द सूरत आ पहुँचा। पुराने खंडहर-सी धर्मशाला में सन्तों का ठहरना हुआ। ठीक सामनेवाले खंडहर में एक बड़ा ही चंचल वानर दिन-रात ऊधम मचाता रहता। मंडल के वरिष्ठ सन्त मुक्तानन्द स्वामी ने सन्त-सभा में एक दिन पूछा लिया, 'उस वानर पर आज तक जिसकी दृष्टि न गई हो, ऐसे संयमी सन्त उठकर दर्शन दें!' अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी अन्तिम पंक्ति में से प्रणाम करते हुए धीरे से खड़े हुए तो

46. भगवान स्वामिनारायण : प्रथम संस्करण, १/६४७ : ले. ह. त्रि. दवे.

मुक्तानन्द स्वामी भी ठगे से रह गए! गुणातीतानन्द स्वामी ने कहा था, 'मुझे मालूम ही नहीं है कि सामने कोई ऐसा प्राणी भी रहता है।' संयम-नियम पर लगातार भाषण देते रहना एक बात है और जीवन को तलवार की धार पर जीने की साधना सहज भाव से करते रहना दूसरी बात है।

सन्तों को विचरण में भेजते समय श्रीहरि अवश्य कुछ न कुछ संयम-नियम के उपदेश देते थे।

एकबार स्वामी कृपानन्दजी तथा पूर्णानन्दजी को सौराष्ट्र की ओर प्रचार के लिए भेजते समय उन्होंने कहा था, 'सन्तो, हमारी सनातन रीति है कि ब्रह्मचर्य सम्बन्धित नियम का उल्लंघन प्राण जाने पर भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप धर्म उत्तम है तथा अक्षरधाम की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन भी वही है।' सन्तों ने श्रीहरि का यह आदेश अपनी सर-आँखों पर उठा लिया था। स्वामी कृपानन्दजी के विषय में इतिहास कहता है कि उनको बुरे स्वप्न भी नहीं आते थे और यदि भूल से भी भगवान के सिवा कोई अन्य संकल्प हो जाता तो भट्ठी में जलाये गए लोहे के सरिये को जैसे हलक में उतार देने पर कष्ट होता है, उतना ही कष्ट वे अपने भीतर अनुभव करते थे![47]

न्हानालाल ने ठीक ही लिखा है, 'आत्मनिष्ठ, निर्भय और निर्भ्रान्त वे स्वामिनारायणीय सन्त वास्तव में धर्म के सिंह थे। वैराग्य और संयम तो उन सन्तवर्यों की अपनी ही धरोहर थी।'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने जूनागढ़ की एक विशाल शोभायात्रा में द्वेषी दीवान की साजिश के रूप में भेजे गए मदोन्मत्त घोड़े को केवल दो मिनट में ही हाथ फेर कर शान्त कर दिया था। वह कामोन्मत्त घोड़ा उस दिन से ऐसा 'शान्त' हो गया, कि उसका उपयोग उस दिन के बाद कभी घोड़े की ऊँची औलाद उत्पन्न करने के लिए नहीं किया जा सका।

❖ ❖ ❖

गुजरात के मूर्धन्य कवि, कवीश्वर दलपतराम ने स्वामिनारायणीय सन्तों की उँगली थामकर ही काव्य-साहित्य के प्रदेश में कदम रखा था। वे अपने गुरु स्वामी भूमानन्दजी के विषय में कहते थे कि : उनके प्रशान्त,

47. भगवान स्वामिनारायण : प्रथम संस्करण, ४/३ : ले. ह. त्रि. दवे।

गंभीर मुखमंडल को देखते ही भक्तों को अपार शान्ति का अनुभव होता। उनके उपदेश में तीर-सी वेधकता थी, जो भीतर जाती तो अन्तःकरण को छेद कर विषय-वासना को मिटा देती। मुझे भी ऐसा ही अनुभव हुआ। उनसे मिलते ही नेत्र से अश्रुधारा बहने लगी। काशी के विद्वानों तक में इन सन्तों की विद्वत्ता की चर्चा होती! वड़ोदरा के महाराजा सियाजीराव के राजपंडितों को, जूनागढ़ प्रदेश के विद्वानों को तथा गुजरात के बाहर से आए हुए, शास्त्रज्ञों को भगवान स्वामिनारायण के विद्वान सन्तों ने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। स्वामी नित्यानन्दजी, स्वामी गोपालानन्दजी तथा स्वामी मुक्तानन्दजी की विद्वत्ता बड़े-बड़े पंडितों के छक्के छुड़ाती रहती थी।'

स्वामी अद्वैतानन्द, स्वामी आनन्दानन्द, स्वामी स्वयंप्रकाशानन्द आदि ने अपार धन-सम्पत्ति, सत्ता तथा मठाधीश होने के नाते अनेक शिष्यों तथा वैभवों का त्याग करके भगवान स्वामिनारायण के चरणों में शरणागति ली थी।

राजकवि पद तथा लाखों रुपयों के धन-वैभव को ठुकराकर भगवान स्वामिनारायण के सन्त-वृन्द में मुकुटमणि के समान सुशोभित स्वामी ब्रह्मानन्दजी का व्यक्तित्व ही इतना अद्वितीय था कि लोग उनकी मधुर गायकी, मर्मस्पर्शी उपदेश तथा सत्त्वशील काव्य-साहित्य से सहस्रों की संख्या में भगवान स्वामिनारायण के शरणागत बनने के लिए आने लगे थे।

❖ ❖ ❖

ऐसे समर्थ सन्तों को भगवान स्वामिनारायण ने पंचवर्तमान (पाँच प्रतिज्ञाओं) की डोर में इस तरह प्रतिज्ञाबद्ध किया था कि उनके सदाचारपूर्ण जीवन से समाज में एक हलचल-सी पैदा हो गई थी। पूरे अध्यात्म-जगत में ऐसे पवित्र, निर्मल और साधुगुण सम्पन्न सन्त-वृन्द आज भी कठिनाई से देखने को मिलते हैं। यह समाज को सम्प्रदाय का निराला योगदान है। भगवान स्वामिनारायण द्वारा दिए गए त्यागियों के पाँच मुख्य नियम इस प्रकार हैं, जो आज भी पालन किए जाते हैं :

निष्काम वर्तमान : अष्टांग ब्रह्मचर्य का आजीवन पालन।

निर्लोभ वर्तमान : किसी भी प्रकार से धन का परित्याग।

निःस्वाद वर्तमान : काष्ठ के एक ही पात्र में सब कुछ भोज्य पदार्थ एकत्र करके, तीन अंजलि पानी डालकर, प्रभु के

स्मरण के साथ बिना किसी हिचकिचाहट के अन्न ग्रहण कर लेना!

निःस्नेह वर्तमान : शरीर के किसी भी स्वजन से, माता-पिता, भाई, बहन से किसी भी प्रकार का सम्बंध नहीं रखना तथा भगवान के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में स्पृहा न रखना।

निर्मान वर्तमान : अहंशून्य जीवन, मान-अपमान में ऐक्य की भावना।

इन पंचव्रतों के पालन के साथ परमात्मा की भक्ति की परम्परा के मार्ग पर चलते रहना लोगों को अद्‌भुत और आश्चर्यजनक लगता था।

दूसरी विस्मित करनेवाली बात तो यह थी कि दिन-रात पंचव्रतों के अनुसार जीवन जीनेवाले इन सन्तों के लिए भगवान स्वामिनारायण ने सौ से अधिक और भी कठोर व्रतों की परम्परा का प्रारम्भ किया था। जिस परम्परा को 'प्रकरण आया है,' या 'प्रकरण बदला गया है।' के माध्यम से आज भी याद किया जाता है। यह रही कठोर तपःपरम्परा की कुछ प्रतिज्ञाएं :

1. षट्‌रसों का त्याग रखना।
2. अच्छी भिक्षा देनेवालों के घर पुनः भिक्षा लेने के लिए नहीं जाना।
3. सर्दी के दिनों में जहाँ तक हो सके, पानी के भीतर बैठे रहना।
4. जहाँ सम्मान मिले, वहाँ से चल निकलना।
5. स्त्री के वस्त्र भी दीख पड़ें तो निर्जल उपवास करना।
6. रात्रि के समय गाँव से बाहर इतने दूर निवास करना कि गाँव के कुत्तों की भौंकने की आवाज़ तक न सुनाई दे।
7. सारी रात पालथी लगाकर ध्यान करते हुए बिताना।

ऐसे-ऐसे 114 'प्रकरण' की कठोर आज्ञाएँ देकर भगवान स्वामिनारायण ने अपने सन्तों की कसौटी केवल एक ही उद्देश्य से की थी कि सन्तवृन्द अध्यात्म के मार्ग पर चलते हुए अनुशासन का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करें ताकि समाजसेवा के किसी भी उत्तरदायित्व का वहन कर सकें।

ऐसे कर्मशील, नीतिबल में सरमौर और तपोबल तथा अध्यात्मबल के शिखर के समान इन सन्तों ने मात्र 20 से 30 वर्ष के अन्तराल में पूरे समाज की मानसिकता में परिवर्तन का अनन्य दौर चलाया।

श्रीहरि ने उन्हें यही आदेश दिया था, 'गाँव-गाँव से अज्ञानरूप

अन्धकार का निवारण करें। विषय, वहम, और वासना के चंगुल में फँसे सहस्त्रों लोगों के जीवन में अध्यात्म-चेतना का संचार करें!'

सन्तों ने इस आदेश को शिरोधार्य किया और निकल पड़े। वे ऐसे ऐसे गाँवों में पहुँचे, जहाँ आवागमन कठिन था, शिक्षण की कोई व्यवस्था न थी, जहाँ लोग वहम के गहन अन्धकार में अपने जीवन को तहस-नहस कर रहे थे। वे सन्त खेत के एक छोर से दूसरे छोर तक किसान और बैल के साथ-साथ चलते, कुम्हार के चाक के पास बैठ जाते, लोहार की भठ्ठियों में स्वयं को सेंकते हुए भी उनको सत्संग, संस्कार और संस्कृति विषयक उपदेश देते। लोगों को शराब और जर्दे की बुरी आदतों से मुक्त करते, व्यभिचार के पाप से तथा जुए के शिकंजे से छुड़ाकर ईमानदारी के पाठ पढ़ाते। कंठी धारण करवाने का उनका उद्देश्य यही था कि व्यक्ति को सदाचार के लिए ली गई अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण रात-दिन रहा करे।

उन विद्वान् सन्तों ने लोकभाषा को अपना माध्यम बनाया, करुणा और दया को अपना साधन बनाया, नि:स्वार्थ भावना ही उनका गतिबल था, तो कष्टों के चुभते काँटों को भी फूलों का बिछौना समझकर लोक सुधार की दिशा में वे अग्रसर होते रहे।

प्रसिद्ध साहित्यकार काका कालेलकर ने ठीक ही लिखा है, 'सहजानन्द स्वामी ने ऐसे शिष्यों का निर्माण किया था जो मन्दिर में बैठकर प्रवचन करने के बजाय अंगारे बरसती गर्मी में किसान के साथ-साथ उसके बैल के पीछे-पीछे उपदेश देने के लिए चलते रहते। पसीने से तरबतर उनके शरीर को कड़ी धूप की परवाह नहीं थी, वे तो काम, क्रोधादिक विकार की गर्मी को दूर करने के उपदेश देते रहते। यदि जनसेवा की इतनी लगन होगी, तो आज का शिक्षक भी समाजोपयोगी साहित्य का निर्माण कर सकेगा!'[48]

❖ ❖ ❖

समाज के अनेक दूषणों को दूर करना तो भगवान स्वामिनारायण का एक उद्देश्य था ही, लेकिन उनका दूसरा उद्देश्य उससे भी बढ़कर था, और वह था समाज को विविध प्रकार की सुविधाओं से सज्ज करना।

48. जनकल्याण (सामयिक) कहावत अंक : वर्ष : १२. अंक : १, पृ. १७।

यहूदी लेखक पीटर ब्रेन्ट ने लिखा है :

'भगवान स्वामिनारायण के 500 परमहंस भारत के उन सन्तों की परम्परा की बुनियाद बनकर उभर उठे, जो संयम और कठोर तप के बाद भी लोकसेवा के अनेकविध कार्य में अपना योगदान देते रहे!'[49]

इस प्रकार समाज के योग तथा क्षेम दोनों दिशाओं में अग्रसर रहकर भगवान स्वामिनारायण अपने अद्‌भुत प्रभाव, स्वयं अपने विचरण तथा सन्तों के पुरुषार्थ से सफलता और लोकप्रियता के जिन शिखरों को छूने लगे थे, तेजोद्वेषियों के लिए ईर्ष्या और द्वेष के कारण भी बनने लगे थे।

भगवान स्वामिनारायण के देहावसान के ठीक एक साल बाद प्रसिद्ध हुई पुस्तक में तत्कालीन चिन्तक एवं इतिहासकार मोनियर विलियम्स ने ठीक ही लिखा था :

'कई लोग आज भी बोलते रहते हैं कि 'भगवान स्वामिनारायण या उनके शिष्य सम्मोहन शक्ति के द्वारा समाज पर अपना प्रभाव स्थापित करते थे। तो वह असत्य और भ्रम है। उनके नैतिक चरित्र की शक्ति, अन्य सद्‌गुणों का उल्लेखनीय प्रभाव तथा उनके आकर्षक एवं सदाचारी वर्तन की शक्ति सबसे अद्‌भुत थी। इन तीनों का सम्मिलन करना ही उनकी सफलता का एक मात्र कारण रहा है। इसी ने उनको अद्वितीय धर्मनेता के रूप में सिद्ध किया है और इसी कारण उनके अनुयायी भी इतनी शीघ्रता से बढ़े कि परम्परागत रूढ़िवादी ब्राह्मण तथा अहमदाबाद के शासक उनकी प्रसिद्धि से जी भरकर ईर्ष्या करने लगे!'[50]

---

49. Godmen of India. v~|w : P. 200. Peter Brent.

50. 'Some attributed his influence to a power of mesmerizing his followers, but he probably owed his success to a remarkable fascination of manner combined with consistency of moral character and other qualities, which singled him out for a leader. His disciples increased so rapidly that the Brahmans and Magnates of Ahmedabad began to be jealous of his popularity.'

- Monier Williams, 'Bramanism & Hinduism or 'Religious Thought & Life in India. John Murray, London Third Edition, v}}|. P. 149.

लेकिन विरोध और ईर्ष्या की ओर देखने से क्या लाभ या क्या हानि हो सकती है? इसी सोच के साथ पूरा सन्तवृन्द कठोर परिश्रम के बाद ऐसी फलश्रुति तक पहुँच चुका था, जिसे क. मा. मुन्शी ने, 'गुज़रात में अधम वर्ग नाममात्र ही रह गया।' शब्द से उचित अंजलि दी है।

नवयुग के निर्माण का शंखनाद हो चुका था, प्रत्येक स्थान पर भक्तबीज अंकुरित होने लगे थे, 'इतने कम समय में विश्व के किसी भी संप्रदाय या संस्थान में इतनी संख्या में, इतने उत्तम लोग शिष्य बनकर जुड़ गए हों, ऐसा यह शायद पहला उदाहरण हो। कठोर नियमन का ऐसा अद्‌भुत वर्चस्व इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं देखा गया था।'[51]

भागवत धर्म की स्थापना का अभी यह प्रथम चरण था। जीवन-परिवर्तन का यह महाकल्याण-प्रारंभ हुआ था। सेवा और सदाव्रत के द्वारा लोकसेवा की गंगोत्री प्रवाहित हुई थी। संतों के उत्कृष्ट आचरण और प्रकाश से सदियों से फैला जड़ता का अंधकार कुछ लुप्त होता दिखने लगा था; परन्तु मंजिल अभी बहुत दूर थी। परिवर्तन की इस आँधी को सांसारिक क्षितिज के उस पार तक पहुँचाने का श्रीहरि का संकल्प था जिसके लिए अभी अनेक प्रवृत्तियाँ शेष रह गई थीं।

❀ ❁ ❀

51. कि. घ. मशरूवाला।

७

कलि में साचो सत्युग आयो...

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रह हेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

जगद्गुरु आदि शंकराचार्य कहते हैं कि तीन चीज़ों का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है, एक तो मनुष्य शरीर, दूसरी मुमुक्षुता और तीसरा सत्पुरुष का सत्संग! इन तीनों से भी अधिक दुर्लभ है भगवद् साक्षात्कार की योग्यता पाने के लिए एकान्तिक धर्म का आत्मसात् होना।

यह 'एकान्तिक धर्म' कोई अलग पंथ या सम्प्रदाय का नाम नहीं है, अपितु यह तो भगवान के उत्तम भक्त की उच्च आध्यात्मिक स्थिति के लिए प्रयुक्त ऐसा शब्द है, जिसका उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता तथा वासुदेवमाहात्म्य आदि पौराणिक ग्रन्थों में पूरी महिमा के साथ किया गया है!

साधारणतः यही माना जा रहा है कि भगवान इस धरातल पर अवतरित होते हैं, तो उनका एक ही उद्देश्य होता है, सदाचार आदि नीति-नियमों की जनसमूह में स्थापना और वर्ण तथा आश्रमधर्मों की राह पर चलाकर वेद-धर्म की खंडित छवि का पुनर्निमाण।

जब कि यह मानना केवल अर्धसत्य है, क्योंकि भगवान स्वामिनारायण ने भी कहा है : वर्ण तथा आश्रम सम्बंधी सदाचार धर्म की स्थापना तो सप्तर्षि आदि अनेक ऋषियों का कार्य है! किन्तु परमात्मा स्वयं इस पृथ्वी पर पधारते हैं, तो उनका उद्देश्य रहता है एकान्तिक धर्म की स्थापना करना। क्योंकि सदाचारपूर्ण वर्णाश्रम धर्म के पालन का पुण्यफल केवल धर्म, अर्थ और काम तीन पुरुषार्थ तक ही सीमित रहता है, किन्तु मोक्ष के लिए तो एकान्तिक अर्थात् भागवत धर्म का अनुसरण ही सच्चे मुमुक्षु के लिए अनिवार्य साधना है।[52]

एकान्तिक धर्म का अर्थ है धर्म, ज्ञान और वैराग्य सहित भगवान की भक्ति करने की सैद्धांतिक परम्परा।

भगवान स्वामिनारायण के समकालीन सत्संग-साहित्य में इस शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है। इससे पहले स्कन्द पुराण के वासुदेव माहात्म्य में[53] और श्रीमद्भगवद्गीता में[54] निरूपित एकान्तिक भक्ति का थोड़ा बहुत निरूपण मिलता है। भगवान स्वामिनारायण के मूर्धन्य सन्त कवि स्वामी निष्कुलानन्दजी अपने ग्रन्थ के हर अध्याय की समाप्ति में अपने इष्टदेव भगवान स्वामिनारायण को 'श्रीमद् एकान्तिक धर्म प्रवर्तक' संज्ञा से विभूषित करते रहे हैं। सम्प्रदाय के साहित्य में मोक्षरीति के हर सोपान पर हमें यह शब्द देखने को मिलता है, 'एकान्तिक धर्म' तथा 'भागवत धर्म!'

गुजरात की धरती पर केवल 30 वर्ष के समय में भगवान स्वामिनारायण ने जिस दिव्य ऐश्वर्य से, अपने लगातार विचरण से, अपने अनुभवपूर्ण उपदेश-प्रवाह से एकान्तिक धर्म की नींव रखी, वह अपने

---

52. वच. ग.म. २१, ग. म. ४६।

53. नारदजी : *भगवन्! ब्रूहि मे धर्ममेकान्तं तव सम्मतम् ।*
प्रीयते येन विश्वात्मा वासुदेवः स सर्वदा ॥
नारायण : *धर्म एष मया प्रोक्तः कल्पस्यादौ विवस्वते ।*
तमेव कथये तुभ्यं सनातनमहं मुने! ॥
स्वधर्मज्ञानवैराग्यैः सह लक्ष्मीवदीश्वरे ।
तस्मिन्ननन्या भक्ति र्या, धर्म एकान्तिक स वै ॥
(वासुदेव माहात्म्य : २०/१,३,४।)

54. श्रीमद् भगवद् गीता : ९-१३, १४, २२ तथा ३४।

आप में अद्भुत और अद्वितीय है। उन्होंने प्रत्येक घर में धर्म की चेतना प्रकट की, ज्ञान के दीप प्रज्वलित किये, वैराग्य की ललक सुनवाई और भक्ति का परचम फहराने लगा।

सर्वप्रथम उन्होंने समाज के व्याप दुराचारों को रोकने के भगीरथ प्रयत्न के साथ धर्म-स्थापन कार्य का प्रारम्भ किया।

अहिंसा धर्म प्रवर्तक

तत्कालीन गुजरात में शाक्तपंथियों के दो पंथ हो चले थे : एक दक्षिणाचारी और दूसरा वामाचारी। वामाचारियों ने पंच मकार को स्वीकार किया था, जिसमें माँसाहार, मत्स्य, मदिरा, मैथुन और मुद्रा के सेवन के अतिरेक ने समाज-मर्यादा के उल्लंघन की कोई परवाह नहीं की थी। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले यही शाक्तपंथी पूजाविधि के समय यज्ञ करते हुए पशुबलि और पशु का रक्त चढ़ाने में देवी की प्रसन्नता मानते थे।[55]

ऐसे वातावरण में स्वयं भगवान स्वामिनारायण पशुबलि के समय पूजा स्थान पर ही पहुँच जाते। वहम के चंगुल में फँसे उस समाज को यज्ञविधि का सत्य बताते और निर्दय हिंसाचार में फँसी मानसिकता को शुद्ध सात्त्विक भावनाओं में परिवर्तित करते।

एक दिन उनको समाचार मिला कि भुज नगर का शक्तिपंथी दीवान जगजीवन मेहता एक शतचण्डी यज्ञ कराने वाला है, जिसमें अनेक निर्दोष पशुओं को बलिवेदी पर चढ़ाकर कत्ल किया जाएगा! ऐसे ही माँसाहारी नैवेद्य का उपभोग करनेवाले ब्राह्मण भी 'देवी को प्रसन्न' करने के लिए 'अजेन यजेत्' जैसे मन्त्रों का गलत अर्थ बताते रहते थे कि अज अर्थात् बकरे के मस्तिष्क से या भेड़ों के रक्त से देवी की पूजा करनी चाहिए, तभी देवी प्रसन्न होती है।

भगवान स्वामिनारायण एन मौके पर वहाँ उपस्थित हुए! उन्होंने देखा कि यज्ञकुण्ड की अग्निशिखाएँ धीरे-धीरे लपटों में परिवर्तित हो रही हैं।

---

55. गुजरात का राजकीय एवं सांस्कृतिक इतिहास - ग्रन्थ : ८ - पृ. ४५५ (गुजराती) संपादक : हरिप्रसाद गं. शास्त्री तथा प्रवीणचन्द्र वि. परीख - सन् 1984)

कुछ भेड़-बकरियों को मंडप के स्तंभ के साथ बांध रखा गया था। प्रत्येक पशु के गले में पुष्पमाला विद्यमान थी, माथे पर कुमकुम टीका किए हुए एक भयंकर दिखने वाला ब्राह्मण हाथ में बड़ा सा गँडासा लेकर वार करने पर तुला हुआ था।

भगवान स्वामिनारायण ने मन्त्रोच्चार और यज्ञवेदी के बीचों बीच पहुँचकर निर्भीकता से आदेश दिया, 'पशुहत्या बन्द करके अपना यज्ञ सात्विक विधि से करने का प्रबन्ध करें!'

तांत्रिक ब्राह्मण इस आदेश को सुनते ही तुनक कर खड़ा हो गया, 'आप कौन होते हैं यज्ञ बन्द करवाने वाले? हम शास्त्रोक्त विधि का यथार्थ पालन कर यज्ञ कर रहे हैं।'

'कौन सी शास्त्रोक्त विधि की बात करते हैं आप?' भगवान स्वामिनारायण ने शान्ति से पूछा, फिर कहा, 'वैदिक मन्त्र 'अजेन यजेत्' का आपका अर्थ होगा, 'बकरे से यज्ञविधि सम्पन्न करें!' बल्कि यह मांसाहार की आपकी आसक्ति के कारण निकाला गया अर्थ है!'

अब अनेक ब्राह्मणों की आँखों में क्रोध का सर्प अंगडाईयाँ लेने लगा। परन्तु श्रीहरि के प्रभाव के आगे वे एक शब्द भी बोलने के योग्य नहीं रहे थे। श्रीहरि ने अपना तेज़ वाक्प्रवाह चालू रखा, 'अज' का अर्थ पुराने धान से ताल्लुक रखता है, समझे! जो धान पाँच-छः साल पुराना हो जाता है, वह फिर से बोने पर भी कभी उग नहीं पाता, शास्त्रों ने ऐसे धान से विधि करने का संकेत दिया है, न कि पशुओं के मांस या रक्त से! आप सब ब्राह्मण हैं। विद्या और दया के पक्षधर हैं। विविध सद्गुणों और धर्मविधि के भंडार हैं, आप के समान सुपात्र ब्राह्मणों को तो धान, तिल, जौ, धृत, नारियल आदि से होम करना चाहिए। अन्यथा आपका ब्राह्मणत्व नष्ट होगा। निर्दय हिंसा से आप देवी को प्रसन्न करेंगे, ऐसे भ्रम में मत रहना! देवी-देवता को प्रसन्न करने का मार्ग तामसिक क्रियाकर्म नहीं है, सदाचार रूप धर्मपालन ही उनको प्रसन्न कर सकता है!'

भगवान स्वामिनारायण के अद्भुत प्रभाव के कारण ब्राह्मण सकपका गए! कोई-कोई अपने भीतर सात्त्विक वृत्ति का उदय होने के कारण हिंसक यज्ञ छोड़कर चले जाते, या फिर कभी भी ऐसे यज्ञ नहीं कराने या

करने की प्रतिज्ञा करते थे।

अहिंसक यज्ञों की परम्परा चलाने के लिए श्रीहरि ने जेतलपुर में विराट् यज्ञ का आयोजन किया। यहाँ ब्राह्मणों को इकट्ठा करके उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था, 'वेदों ने भी पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सात्त्विक यज्ञ का ही निर्देश किया है। हिंसक यज्ञ कभी वेद-प्रणित है भी नहीं, तथा थे भी नहीं! हम हमेशा वेदों के अनुसार आचरण करते हैं और वैसी ही प्रवृत्तियों का पुनरुत्थान करते हैं!'[56]

उत्तर गुजरात में ऐसी हिंसक प्रथा अधिक सिर उठा रही थी। जब श्रीहरि का अहिंसा का आदेश सुना तो गाँव के प्रतिष्ठित सत्संगी माना गोहेल ने माँ के पुजारियों को ललकार दी, 'मेरे इस गाँव में हर दशहरा के दिन एक भैंसा और कई बकरे काटे जाते हैं, इस अमानुषी परम्परा का मैं विरोध करता हूँ! भविष्य में यदि यह पाप हुआ, तो मैं आप सभी पुजारियों के सिर उतारने में तनिक भी विलम्ब नहीं करूँगा।'

एक ही सत्संगी की आत्मिक शक्ति ने पूरे गाँव की आत्मा को जगा दिया और वह दिन कभी नहीं आया कि माँ दुर्गा की मूर्ति किसी पशु के रक्त से अभिषिक्त हुई हो। श्रीहरि ने अपने भक्तों को सिद्धान्त के लिए मर मिटने की कैसी शक्ति दी थी![57]

भगवान स्वामिनारायण ने जब से विराट् पैमाने पर जेतलपुर, डभाण आदि अनेक स्थलों पर अहिंसक यज्ञों का दौर चलाया, उसका परिणाम यह हुआ कि हिंसक यज्ञों की परम्परा मृत:प्राय सी हो गई। गुजरात आज भी अनेक प्रकार के क्रिया-काण्ड में शराब या हिंसा से परे है तो उसका श्रेय भगवान स्वामिनारायण के चरणों में ही अर्पण है।

सदाचार का पालन ही धर्म है !

सन् 1899 में गुजरात के वरिष्ठ साहित्यकार न्हानालाल से एक काज़ी साहब की भेंट हुई थी। काजी साहब ने न्हानालाल से बातों ही बातों में कहा था कि जो स्वामिनारायण के आश्रित होते हैं, वह अवश्य सुखी हो

---

56. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/३४० ले. ह. त्रि. दवे।
57. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, ३/२८ ले. ह. त्रि. दवे।

जाते हैं, चाहे वह दर्जी हो या कुनबी! किसी भी समुदाय की जीवन शैली पर सम्प्रदाय के आश्रित बनते ही बहुत ही प्रभावक असर पड़ता है!'

हाँ, इस मान्यता को प्रतिदिन सत्य का आधार मिलता ही जा रहा है।

अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी के इस उपदेश-वाक्य ने तो गुजरात में कहावत का रूप ले लिया है, 'कुसंगी के फ़ेल-फ़ितूर में सत्संगी की रोटियाँ!'

अर्थात् शराब, जुआ, धूम्रपान आदि बुरी आदतों में जितना आर्थिक नुकसान होता है, उतने ही खर्च में सत्संगियों के लिए तो माहभर का गुजारा हो सकता है।

स्वामिनारायण भगवान ने अपने समय के भारी से भारी व्यसनों से बचना सिखाकर, या व्यसनियों को सदाचार के मार्ग पर चलाकर समाज पर इतना बड़ा उपकार किया था कि सहस्त्रों नारियों के चेहरे पर सुख की मुस्कान वापस लौटी थीं...। सहस्त्रों परिवारों को दो जून का खाना नसीब हो सका था, सहस्त्रों घरों में आर्थिक सम्पन्नता ने मृतःप्राय अवस्था से चेतना की अंगडाई ली थी!

इतिहासविद् के. के. दत्ता ने श्रीहरि के इस महान कार्य को बड़े सरल ढंग से इस प्रकार लिखा है :

'स्वामी सहजानन्दजी के प्रभाव में लोगों ने शराब पीना, जुआ खेलना, माँस-भक्षण करना आदि अनेक बुरी आदतों को सहज ही में छोड़ दिया था। तम्बाकू-सेवन या धूम्रपान से उनके अनुयायी स्व-अनुशासन से परहेज रखने लगे थे। लोगों ने अपना नैतिक जीवन उन्नत कर लिया था।'[58]

शूरता को मिला नया मोड़

शेलणा गाँव (जिला : भावनगर) के ओघड़जी, वाजसुर और राम खुमाण का स्वामिनारायणीय सन्त, स्वामी योगानन्दजी से सम्पर्क हुआ।

---

58. 'Under the influence of Sahajanandji, they gave up their habit of drinking, gambling, eating meat, smoking and raised their moral standards. - K. K. Dutta, *(A Comprehensive History of India* Vol. XI. P. 848)

तीनों ने सत्संग के नियम ग्रहण करके व्यसनमुक्ति की प्रतिज्ञा ली। किन्तु जब भावनगर के महाराजा वजेसिंह (विजयसिंह) के दरबार में गए, तब वहाँ शराब का बड़ा तगड़ा प्रबंध था! यदि स्वीकार न करें तो राजा साहब के रूठने की बारी थी और स्वीकार करने पर भगवान के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा का उल्लंघन था पर तीनों ने एक साथ अपनी तलवार निकाल कर महाराजा के समक्ष घुटने टेक दिए, 'राजन्, अब तो हम हलक के नीचे शराब की एक बून्द भी नहीं उतार सकते! क्योंकि अब हम भगवान स्वामिनारायण के प्रतिज्ञाबद्ध शरणागत है, किसी भी प्रकार का व्यसन हमारे लिए आजीवन वर्जित है! लेकिन महाराज, यदि आपको मदिरा पिलानी ही है तो लीजिए यह हमारी तलवार और हमारे सिर काटकर हमारे शरीर में आप चाहे जितनी शराब उँडेल सकते हैं! अन्यथा जिस मुख से हमने स्वामिनारायण का मन्त्र-स्मरण किया है, उस मुख में हमारे जीते जी तो एक बूंद भी शराब नहीं जाएगी।'[59]

सारा दरबारभवन इस निश्चलता से स्तब्ध रह गया। भगवान स्वामिनारायण ने लोगों की शूरता को किस प्रकार नया मोड़ दिया था, इस रहस्य को जानने के लिए मात्र यह दो प्रसंग ही पर्याप्त हैं।

उत्तर गुजरात के करजीसण गाँव में अचानक श्रीहरि ने गोविंदभाई से पूछा, 'आज सत्संग सभा में बहुत कम संख्या क्यों दिखाई देती है?' उन्होंने कहा, 'महाराज, गाँव के चौराहे पर लोग अफ़ीम घोलने के लिए रोज मेला जमाते हैं।'

महाराज ने कहा, 'क्यों न हम वहाँ चलें?'

'महाराज, आपको वहाँ जाना शोभा नहीं देगा। न जाने नशे में धुत्त वे लोग आपके साथ कैसा व्यवहार करें?' लेकिन महाराज ने उनकी एक न सुनी। वे फौरन अफ़ीमचियों-भंगेड़ियों के अड्डे पर पहुँच गये। महाराज को देखते ही सब हड़बड़ा कर खड़े हो गये। महाराज अपने साथ 11 मन गेहूँ ले गए थे। उन्होंने सबको गेहूँ दिखाकर तलवार सी खनकती आवाज़ में कहा था, 'नामर्दो, देह को पुष्टि देनेवाले गेहूँ तथा जीव को पुष्टि देनेवाले हमारे सत्संग को छोड़कर ऐसा विष पीने पर शर्म नहीं आती? छोड़ दो

59. सद्गुरु अक्षरानन्द स्वामी की बातें - क्रम : २९० के आधार पर.

इसे। देखते हैं तुम्हारे में से कौन ऐसा मर्द है, जो इस विष को छोड़कर सत्संग का अमृत पीने के लिए तैयार हो जाता है!'

ढीठ से भी ढीठ व्यसनी को सदाचार के पथ पर चलाने के लिए भगवान स्वामिनारायण ने ऐसी मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का बड़े सहज ढंग से उपयोग किया था। इससे लोगों की आन्तरिक शक्ति स्वाभाविक रूप से जाग जाती थी। वे अच्छी तरह समझते थे कि पूरे सम्प्रदाय का वातावरण ही ऐसा पवित्र तथा निर्मल बनेगा, तो लोगों को सम्प्रदाय के अनुयायी कहलाने में गौरव का अनुभव होगा, यदि उसी गौरव को आदमी जारी रखना चाहता है, तो उसे स्वयं ही अपनी बुरी आदतों को न चाहते हुए भी तिलांजलि देनी पड़ेगी! इस प्रकार एक सात्त्विक दबाव पैदा होगा, जो व्यक्ति के मनोबल को नई ऊँचाईयाँ दिखाएगा!

❖ ❖ ❖

खंभाला गाँव के मूलुभाई के साथ यही हुआ। भगवान स्वामिनारायण ने उन्हें सत्संगियों के संघ के साथ वरताल के उत्सव पर आने के लिए तैयार कर लिया लेकिन वे अपना हुक्का और अफ़ीम की गोटियाँ लेना नहीं भूले।

संघ एक गाँव से दूसरे गाँव होते हुए खेड़ा जिले की ओर बढ़ता जा रहा था। वह एक गाँव में विश्राम के लिए रुका। सब कोई भजन, कीर्तन, सेवा, कथा आदि में मग्न थे, सिवा एक मूलुभाई के! वे एक दूर के कोने में अपना हुक्का गुड़गुड़ाने लगे, गाँव के लोग संघ के दर्शन के लिए निकल पड़े थे, कुछ लोगों ने मूलुभाई को देख लिया। उन्हीं के पास से जाते हुए आपस में बतियाने लगे, 'अजी, यह तो कोई स्वामिनारायण वाला नहीं लगता! जो उनई का भगत होवत हुई, सो हुका-बीड़ी को तो छुवत ही नाईं!'

मूलुभाई ने लोगों की बात सुनी तो शरीर में झुरझुरी सी दौड़ गई, उन्होंने सोचा कि मेरे हुक्के के कारण भगवान के पूरे संघ की निंदा होती रही है। धिक्कार है मेरे व्यसन पर। उन्होंने उसी पल हुक्का उठाकर एक शिला पर पटक दिया और हरिभक्तों के साथ सेवा में हाथ बँटाने लगे...। संघ जब वरताल पहुँचा, तो मूलुभाई की अफ़ीम की गोटी ने अपना स्वरूप दिखा दिया। वे सत्संगियों से छिप-छिपकर कभी-कभार अफ़ीम घोल लिया करते थे, परन्तु इतने बड़े सत्संग-समाज के बीच किसी न किसी सत्संगी को

मूलुभाई के व्यसन की बात मालूम होनी ही थी, सो हो गई! एक सत्संगी ने दरबार मूलुभाई को तुरन्त टोक दिया, 'क्यों इस सत्संगियों के संघ में चले आए हो! व्यसन करना कुसंगियों का ही काम होता है!'

मूलुभाई को इतना बुरा लगा कि मेरी इतनी सी कमज़ोरी मुझे सत्संगियों का आदर तो क्या, भरोसा भी नहीं दिला रही है, तो आज से इसको छोड़ना ही उचित होगा!

जब यह खबर भगवान स्वामिनारायण को मिली तो अपनी 'विजय' पर मुस्कुराने लगे, और मूलुभाई से पूछने लगे, 'क्या हुआ दरबार, सुना है आप अब पूर्णत: निर्व्यसनी हो गए!'

मूलु खाचर ने प्रणाम करते हुए कहा, 'महाराज, आप ही के प्रताप से और सत्संग समाज के कारण यह सम्भव हुआ है! कुसंगियों के शब्द से मैंने हुक्का पटक दिया था, और सत्संगियों के टोकने से अफ़ीम फेंक दी!'

परिवर्तन का शंखनाद

'और लोग उनका स्मरण करेंगे एक सन्त या धर्माचार्य के रूप में नहीं, साहित्य प्रेरक के रूप में नहीं, अपितु समाज को नैतिक उन्नति के पथ पर हमेशा के लिए प्रशस्त करनेवाले युगनिर्माता के रूप में! उन्होंने प्रजा को मांसाहार, शराब, व्यभिचार, असत्य और चोरी-डकैती इन पांचों दूषणों से मुक्त किया, पशुवृत्तिवाले मनुष्यों को सही अर्थ में मानव बनाया। यदि स्वामी सहजानन्दजी न होते, तो गुजरात को 'गर्वोन्नत गुजरात' का सम्मान कभी न मिल पाता। आज गुजरात में जितना भी सदाचार है, जितनी भी अहिंसा-भावना है, सद्‌गुणों से हरी-भरी जो मूल्यनिष्ठा है, उसमें स्वामी सहजानन्दजी का प्रदान अनन्य है! ठीक समय पर पहुँचकर समाज को अधम दशा से उबारनेवाले अधमोद्धारक स्वामी सहजानन्दजी को इसी कारण 'ज्योतिर्धर' का सम्मान दिया गया है वह बिलकुल उचित ही है!'[60]

समाज-परिवर्तन की नई क्षितिजें खोलकर भगवान स्वामिनारायण ने अज्ञानजन्य अन्धकार में नैतिकता का जो सूर्योदय किया था, उसकी फलश्रुति हमें दो मुख्य धाराओं में प्रवाहित होती दिखाई देती है। एक है : समाज के

60. चन्द्रवदन मेहता. गुजरात के सम्मान्य साहित्य सर्जक।

पतितों का बदला हुआ तथा नीति की ओर मुड़ा हुआ रुख! और दूसरा, समाज में नारी की असहाय दुर्दशा को मिटाकर उनको स्वायत्तता और अस्तित्व बोध के साथ साधना के उच्च शिखर पर आसीन कराने की प्रवृत्ति।

गुजरात में सन् 1822 तक तो अंग्रेजों ने अपनी जड़ें जमाना प्रारम्भ कर दिया था। मुम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर जॉन माल्कम गुजरात के अपने वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा सम्प्रदाय, भगवान स्वामिनारायण तथा उनके सन्तों आदि के विषय में बहुत कुछ प्रभावित करनेवाली बातें सुन चुके थे। अपने मन्त्री मि. थॉमस विलियम्स तथा सौराष्ट्र के पोलिटिकल एजेन्ट श्री टी.एन. ब्लेइन दोनों ने सर जॉन माल्कम को बार-बार कहा था कि हम जिस दिन से गुजरात में आए हैं, उसी दिन से देखते चले आए हैं कि भगवान स्वामिनारायण के प्रताप, उनके किए धर्म प्रवर्तन तथा उनके सन्तों के शील एवं सदाचार से गुजरात में सुख-शान्ति बनी हुई है। जो कार्य हमारे शस्त्र तथा सत्ता से नहीं हो पाया, वह भगवान स्वामिनारायण ने अपनी प्रेमपूर्ण करुणा और अहिंसा के माध्यम से सहज सिद्ध किया है।[61]

नैतिकता की जिस ऊँचाई को देखकर अंग्रेज अधिकारी भी चकित रह जाते थे, उसकी झलक यहाँ दो प्रसंगों में प्रस्तुत है।

अंग्रेज पुलिस अफ़सर मि. मिल ने पूरे भावनगर जिला का चप्पा-चप्पा छान मारा था। अपनी गश्त के साथ दिन-रात घूमकर एक भारी लूट का सुराग पाने के लिए वह व्याकुल था। लूट हुई थी शत्रुंजय की पहाड़ियों पर सुशोभित प्रसिद्ध जैन मन्दिर में। तीर्थंकर सम्भवनाथ का मुकुटमणि कई दिनों से गायब था। लूटनेवालों ने मोणपर गाँव के धनिक सत्संगी शार्दूल खसिया को वह बेच दी थी। इस बात की जानकारी न तो पुलिस को थी, और न ही भावनगर-नरेश विजयसिंह को।

एक दिन भगवान स्वामिनारायण शार्दूल के घर आ पहुँचे। शार्दूल ने बड़े उत्साह एवं भक्तिभाव से श्रीहरि का स्वागत किया। भोजन की व्यवस्था हो चुकी थी, बस महाराज के बैठने की ही देर थी कि उन्होंने अचानक अपना निर्णय प्रकट कर दिया, 'शार्दूल, हम तुम्हारे घर नहीं खा सकते।'

---

61. A New Face of Hinduism : The Swaminarayan Reiligion - Raymond Williams.

'ऐसा क्यों महाराज?' शार्दूल ने हडबड़ाकर कहा।

'ऐसा इसलिए कि हम चोर के घर भोजन नहीं लेते।'

'चोर के घर?' 'हाँ! हमारी घोड़ी इसी क्षण तैयार करो! हम महुवा की ओर चलते हैं!' महाराज के स्वर में दृढ़ता थी।

शार्दूल उनके चरणों में गिरकर गिड़गिड़ाने लगा, 'दास पर रहम कीजिए प्रभु! मेरा क्या अपराध हुआ है, बताइए मुझे! आपने मुझ पर इतना बड़ा दोष क्यों लगा दिया प्रभु।'

भगवान स्वामिनारायण ने उनकी आँखों में गंभीरता से दृष्टि गड़ाई। कुछ पल वैसे ही देखते रहे, फिर धीरे से कहा, 'सम्भवनाथ का वो चुराया हुआ मणि तुम्हारे ही घर में है। है न?'

यह सुनते ही शार्दूल की धड़कनें तेज हो गईं। माथे पर पसीने की बूंदें झिलमिलाने लगीं। हाथ जोड़कर उसने काँपते हुए स्वर में कहा, 'लेकिन महाराज, मैंने उसकी पूरी कीमत दी है।'

'फिर भी वह धर्मस्थान से चुराया हुआ धन है और हम इस प्रकार के दुराचार के विरुद्ध हैं।'

'तो क्या आज्ञा है महाराज?' 'आप जाकर आज ही इस मणि को उस अंग्रेज अधिकारी को सौंप दो जो दिन-रात इस मणि के लिए परेशान हैं।' महाराज ने स्पष्ट रूप से आज्ञा दी।

और शार्दूल मणि लेकर पुलिस अफ़सर मि. मिल के पास पहुँच गया। मणि देखते ही वह हडबड़ाकर खड़ा हो गया। शार्दूल ने पूरी सत्य बात बता दी, मि. मिल शार्दूल को चिड़ियाघर के प्राणी की तरह ताकता रह गया!

'टू इसलिए यह मणि लौटाने चला आया है, कि स्वामिनारायण ने टुमको बोला है?'

'जी सरकार!' शार्दूल ने कहा और मि. मिल का चेहरा खिल गया। कुछ ही पलों में ईमानदारी का पहला पाठ पढ़ानेवाले स्वामिनारायण भगवान की अनन्य क्षमता के विषय में अब उसे तनिक भी संदेह नहीं रहा।

पराया धन मिट्टी के बराबर!

अकाल का ऐसा भीषण समय बीत रहा था कि दलितों और गरीबों का

एक-एक बच्चा दाने-दाने के लिए तरस रहा था। सुरेन्द्रनगर जिले के लीमली गाँव के वाघरी कौम (गुजरात की एक निम्न मानी जानेवाली जाति) का एक सत्संगी सगराम अपनी पत्नी के साथ दक्षिण गुजरात की ओर कुछ नौकरी पाने की आशा से निकल पड़ा था। चोरी और लूटपाट के लिए उसने तथा उनके साथियों ने 'बड़ा' नाम कमाया था, लेकिन स्वामिनारायण भगवान के सत्संगी होने के कारण सगराम पूरी तरह बदल चुका था।

भीषण रेगिस्तान-सी धरती पर दूर-दूर तक कहीं भी चेतना का संचार नहीं था। पति-पत्नी एक दूसरे से कुछ फासले पर सूरत के मार्ग पर धीरे-धीरे कदम बढ़ा रहे थे कि अचानक सगराम रुक गया। देखा तो सूर्य की किरणें चाँदी के सुन्दर कड़े पर झिलमिला रही थीं। कुछ पल के लिए सगराम सोच में पड़ गया। अपनी पत्नी की ओर देखते ही उसने बैठकर वह कड़ा धूल के नीचे छिपा दिया और सहजभाव से मार्ग की ओर चल दिया! कुछ ही पलों में पति-पत्नी पुनः साथ हो गए तो पत्नी ने पूछ लिया, 'आप भूमि पर बैठकर वहाँ क्या करने लगे थे?'

सगराम ने उत्तर टालने का निष्फल प्रयास किया, 'वह तो... कुछ नहीं! बस वैसे ही!' लेकिन पत्नी के आग्रह पर उसे झुकना पड़ा तो कह दिया, 'वहाँ चाँदी से बना पैर का सुन्दर कड़ा दिखाई दिया, तो सोचा, यह पराया धन है और कहीं इतनी भीषण गरीबी में तेरा मन उसे लेने के लिए लालायित न हो, इसी कारण मैंने उस पर धूल डाल कर छिपा दिया था।'

अब पत्नी ने धीरे से मुस्कुराकर कहा, 'आपको तो वह 'चाँदी' लगा, परन्तु मेरे मन में तो जब से सत्संगी हुई हूँ, तब से पराया धन मिट्टी से तनिक भी अधिक नहीं हैं!' सगराम भी पत्नी की इस ईमानदारी पर धन्य हो गया!

सगराम जैसे अनेक लोगों को उन्नति के मार्ग पर उन्मुख करनेवाले श्रीहरि को इतिहासविद् विजयसिंह चावडा ने उचित श्रद्धांजलि दी है, 'स्वामी सहजानन्दजी ने गुजरात में उन्नीसवीं शताब्दी के अराजकता भरे पूर्वार्ध में आकर अपना श्रद्धा, सौहार्द और शान्ति का संदेश फैलाया। विशेष करके समाज के पिछ़डे हुए वर्ग में उन्होंने इन तत्त्वों के द्वारा प्रत्येक मानव में भगवान तथा धर्म की ओर श्रद्धा की पुनःस्थापना की। वे

अपने उस उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुए।'[62]

❖ ❖ ❖

वरताल गाँव का रहनेवाला जोबन पगी तो इतना बड़ा लुटेरा था कि वड़ोदरा के महाराजा सयाजीराव की राज्य तिजोरी तक वह उठाकर ले गया था। उसका दिया हुआ तीर जिसके भी पास होता था, उसे कलकत्ता तक कोई लूटने की हिम्मत नहीं करता था।

जब भगवान स्वामिनारायण की अन्यतम घोड़ी माणकी के विषय में उसने सुना तो उसने घोड़ी ही चुराने की योजना बना ली। डभाण गाँव के विराट् अहिंसक यज्ञ के आयोजन में जब भगवान स्वामिनारायण पधारे थे, तो तीन रात तक घोड़ी को चुराने के लिए जोबन ने हर संभव प्रयास किया। लेकिन वह कामयाब नहीं हो सका! कारण यही था कि हर पल तीन-तीन रात तक उसने अस्तबल में एक-एक घोड़े के पास अनन्त रूप में भगवान स्वामिनारायण को देखा! इस अद्‌भुत अनुभूति ने जोबन के अन्तराल को भिगोकर रख दिया। वह स्वयं प्रभु की शरणागति को स्वीकार कर निष्ठावान सत्संगी बन गया।

प्रसिद्ध इतिहासविद् प्रिन्स होपकीन्स ने ठीक ही लिखा है, 'भारत में ब्रिटिश शासन के पहले से ही भगवान स्वामिनारायण ने हिंसा आदि दुराचारों को मिटाकर संस्कार सिंचन करना शुरु कर दिया था!'[63]

इस सम्प्रदाय को वैसे भी 'आचार शुद्धि का मार्ग' 'विचार शुद्धि का

---

62. "Swami Sahajanand who came to Gujarat in the tormented first half of the 19th century with his message of faith, goodwill and peace succeeded in rehabilitating people's faith in God and religion, particularly those in the lower strata of the society."

- P. 16 'Modern Gujarat' by Vijay Singh Chavda.

63. His beginnings dates back into the period before India was subjugated by the British and the testimony of many officials is on record with regard to the civilizing effect he extended in an age of general violence and to the personal influence of the Swami himself in particular.' - Character and Personality (Journal) - Pryns Hopkins, vol. III No. 1 Sept., 1939, P : 72

मार्ग' 'वाणी शुद्धि का मार्ग' ही कहा गया है और इस विशेष सम्मान का महत्त्वपूर्ण कारण केवल यही है : आंतर-बाह्य शुद्धि का भगवान स्वामिनारायण द्वारा मिला हुआ विरल प्रशिक्षण।

लोया गाँव (जि. सुरेन्द्रनगर) के ठाकुरसाहब सुराखाचर किसी काम से अपने सम्बंधी जसदण गाँव के ठाकुरसाहब के घर गए थे। केवल द्वेष के कारण जसदण के ठाकुरसाहब ने सुराखाचर के बंगले पर रात को बारह बजे के बाद एक वेश्या को भेज दिया था। इस घृणित प्रयास के पीछे, प्रात:काल होने पर सुराखाचर को अपमानित करने का आशय छिपा हुआ था। लेकिन रात के सन्नाटे में जब दरवाजे पर दस्तक हुई, उसी पल सुराखाचर चौकन्ने हो गए थे। दरवाजे की दरार से सुरा भक्त ने स्त्री को देख लिया तो उसके आने का कारण भी पूछ लिया। स्त्री ने बड़े अनूठे अंदाज से पढ़ी-पढ़ाई कहानी सुना दी, 'यह मेरा घर है, मैं अपने बीमार बेटे की दवाईयाँ लेने के लिए आई हूँ, मुझे अन्दर आने दीजिए!' और दयार्द्र होते जब सुराखाचर ने दरवाजा खोल दिया, तो स्त्री ने भीतर आकर नया ही नाटक प्रारम्भ कर दिया। पल भर में ही उसकी मलिन इच्छा भाँपते हुए सुराखाचर ने तलवार खींच ली, 'सावधान! एक कदम भी आगे बढ़ी तो यह तेरे शरीर के उस पार निकलने में तनिक भी देर नहीं करेगी!' वेश्या हड़बड़ाकर उसी पल भाग खड़ी हुई और सुराखाचर भी उसी क्षण अपने घोड़े पर सवार होकर गढ़डा की ओर निकल गए।

महाराज ने सुबह होते ही सभा में पहुँचनेवाले सुरा भक्त का भाव-विभोर स्वागत किया, 'आईए! आईए! आप तो हमारे यतिवर हैं!'[64]

इसी संदर्भ में ईसाईयत फैलाने के लिए गुजरात में आए रेवरन्ड

---

64. 'He preached a great degree of purity forbidding his disciples so much as to look on any woman whom they passed. Those villages and districts which had received him, from being among the worst, were now among the best and most orderly in the provinces !'
- Reginald Heber (Bishop of Calcutta) Narrative of a Journey Through the Upper Provinces of India, from Calcutta to Bombay, (v}wy - v}wz), Vol. II London. John Murray. 1846, P. 143.

बिशप हेबर के उन शब्दों की हमें याद आती है, 'उन्होंने (भगवान स्वामिनारायण ने) अपने शिष्यों में इतनी उच्च और पवित्र संयम-भावना का सिंचन किया था, कि उनके शिष्य किसी भी स्त्री के सामने एक टक ताकते भी नहीं थे! वे जिन गाँवों में गए, वहाँ लोगों ने उनका स्वागत किया! जो लोग तथा जो स्थान उन दिनों अत्यंत हीन स्तर के थे, आज भगवान स्वामिनारायण के सम्पर्क से प्रान्त में वे श्रेष्ठ लोग और श्रेष्ठ स्थान बन चुके हैं! (सन् 1825)'

नारी उद्धार का नया अध्याय

सम्प्रदाय के सन्तवृन्द को भगवान स्वामिनारायण की स्पष्ट आज्ञा थी : 'घूमते रहो! चलते रहो!' स्वयं भी अपनी माणकी घोड़ी पर या रोज़े घोड़े पर सवार होकर देहातों की ऐसी-ऐसी बस्तियों में घूमते रहते कि जहाँ विविध प्रकार की कुरीतियों में मानवता की साँस घुटी जा रही थी। एक ऐसी ही कुप्रथा देखकर उनकी रुह काँप गई थी। काल-प्रवाह का यह भयंकर परिदृश्य, सौराष्ट्र के उच्चवर्गीय उन परिवारों में देखा जाता था, जिनके घर में कन्या का जन्म होता था। उन दिनों कुछ जातियों में कन्याओं के जन्म लेते ही, दूध से भरे हुए एक बड़े पात्र में उन्हें डुबोकर मार दिया जाता था। इस अमानवीय बाल-हत्या को 'दूध पीती' के नाम से जाना जाता था। ये वो मासूम कलियाँ थीं, जिन्हें संसार-उद्यान में खिलने से पूर्व ही मसल दिया जाता था। किसी परिवार में पुत्री का जन्म लेना एक अभिशाप था। इसके मूल में छिपा था दहेजरूपी 'भयंकर दानव'! समकालीन समाज में व्याप्त भिन्न असामाजिक कुप्रथाओं, अमानवीय हत्याओं और आडम्बर पूर्ण अधार्मिक गतिविधियों की पीड़ा से कराहती हुई मानवता को देखकर स्वामी सहजानंदजी का हृदय करुणा से भर उठा। उन्होंने उस भयंकर त्रासदी से प्रजा को मुक्त करने का संकल्प लिया और सौराष्ट्र की पावनधरा पर मानव कल्याण की महायात्रा का श्रीगणेश किया।

राजपूत, काठी आदि गिरासदार जातियों में इस कुरीति ने गहरी जड़ें डाल ली थीं! वे न तो अपनी पुत्री के विवाह के खर्च का बोझ उठा सकते थे, न ही अपनी प्रतिष्ठा गँवाना चाहते थे! नतीजा यही निकलता था, दूध

में डूबोकर बच्चियों की हत्या करना!

भगवान स्वामिनारायण के विचरण की दूसरी फलश्रुति है : नारी उद्धार की! असहाय अबलाओं की दुर्दशा मिटाने के लिए उन्होंने जो ठोस कदम उठाए, उसका परिणाम यह हुआ कि पूरे स्त्री-वर्ग में शिक्षण तथा आत्मविश्वास की ऐसी प्रेरक शक्ति मिली कि मानो समाज में एक क्रान्ति-सी पैदा हो गई हो!

जैसे कि आगे कहा गया है कि बच्चियाँ संसार की आहट सुने इससे पहले तो मौत की नींद सो जाना पड़ता था, दूध के एक बड़े से बर्तन में डूबकर अपनी जान की कीमत चुकानी पड़ती थी। उन दिनों गुजरात के एक लाख बीस हज़ार जाडेजा राजपूतों के घरों में प्रति वर्ष 20,000 से अधिक स्त्री भ्रूण हत्या की जाती थी![65]

स्त्री-हत्या का दूसरा एक भायावह स्वरूप था, 'सती' होना। राजपूत परिवारों में उन दिनों पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी को पति की चित्ता के साथ ही 'सती' हो जाने के लिए विवश कर दिया जाता था। केवल कोलकाता (कलकत्ता) तथा उसके आसपास के इलाकों में ही सन् 1815 में 253, 1816 में 289, तथा 1817 में 441 स्त्रियाँ पति के मृत्यु के बाद चिता पर जल कर भस्म हो गई थीं![66]

भगवान स्वामिनारायण ने बन्धिया गाँव में पूरे राजपूत समाज को सम्बोधित करते हुए कहा था, 'इस प्रथा के कारण तीन प्रकार की हत्याओं का पाप हमारे सर पर मंडराता रहता है, एक स्वजन-हत्या का पाप, दूसरा बाल-हत्या का पाप और तीसरा स्त्री-हत्या का पाप! आपको आज ही से हमें भरोसा दिलाना होगा कि आप आइन्दा इस राक्षसी प्रथा को हमेशा के लिए छोड़ देंगे।'

राजपूतों ने अपनी मजबूरी बताई, तब भगवान स्वामिनारायण ने सब के देखते ही देखते सुहृद्भाव की मिसाल रख दी, 'कन्याओं के विवाह के लिए आप लोगों को जितने धन की आवश्यकता होगी, उतना धन हम

---

65. उन्नीसवी शताब्दी में गुजरात में स्वामिनारायण सम्प्रदाय का सांस्कृतिक योगदान. - (शोध-निबन्ध) (गुजराती) - डॉ. रश्मि व्यास. पृ. २१

66. डॉ. रश्मि व्यास. पृ. १९.

सत्संग-समाज के एक-एक घर से लाकर तुम्हें पहुँचाएँगे! लेकिन आज से ऐसा घृणित कर्म करना बन्द करने की प्रतिज्ञा करें।'

राजपूतों ने प्रतिज्ञा तो ली, लेकिन अपने समाज के चरित्रहीन युवाओं का दूसरा प्रश्न भी श्रीहरि के चरणों में रख दिया।

तब भगवान स्वामिनारायण ने समाज के नेताओं के समक्ष वह उत्तरदायित्व भी अपने सिर पर उठा लिया! उन्होंने कहा : 'जब हम तुम्हारा इतना दायित्व ले रहे हैं, तो क्या चरित्रवान लड़कों का निर्माण नहीं करेंगे? लेकिन तुम्हें हमारे हर आदेश को आज्ञा मानकर स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा, याद रखना, तुम्हारी लड़कियाँ जंगलियों के साथ ब्याही जाएँगीं। कुछ वर्षों में ही ऐसी सत्ता (अंग्रेजों की) आनेवाली है, कि वे लोग कानून के बल पर तुम्हारी यह जंगलियत को बन्द करवाएँगे! उस समय मजबूरन घुटने टेकने पड़ेंगे, जब कि आज से हमारे अनुशासन को मानोगे, तो हमारी प्रसन्नता आप पर सदा-सर्वदा के लिए बरसती रहेगी!'

श्रीहरि की इस तीखी परंतु प्रेरक उपदेशवाणी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि गुजरात के गाँव-गाँव में बिना कानून के ही मात्र प्रेम और प्रोत्साहन के बल पर इस कुप्रथा की जड़ें हमेशा के लिए उखड़ गईं!

बड़े-बड़े राजाओं को भी उन्होंने इस प्रथा को मिटाने के लिए प्रेरित किया था। गोंडल के महाराजा हठीसिंह से श्रीहरि ने स्पष्ट कहा था, 'राजन्, आप तो यदुकुलभूषण हैं। आपके राज्य के क्षत्रिय, मासूम बच्चियों की हत्या करते हैं, क्या वह उचित कर्म है? उन कलियों की रक्षा करना तुम्हारा धर्म है। यदि मेरी आज्ञा से यह बन्द नहीं करवाओगे, तो आगे उसको कानून के बल से बन्द करवानेवाली सत्ता आ रही है!'[67]

- और उसी दिन से गुजरात में स्त्री-उत्कर्ष का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

समाज को धर्म के मार्ग पर ले जानेवाला सन्त समुदाय भी स्त्रियों को भ्रष्ट करने के लिए किस सीमा तक गिर गया था कि तत्कालीन वैरागियों की वृत्तियों को स्वामिनारायणीय सन्त कवि स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने इस प्रकार शब्दबद्ध किया है :

67. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, ३/१७३ ले. ह. त्रि. दवे.

'आओ माई, तोय बात कहुँ एक ज्ञान की,
आसन पर एकांत आवनां दान की!
दिल के भीतर घात, बात मुख राम की,
हर हाँ श्रीरंग माई माई कह बोले, नजर हराम की![68]
भरतखंड के मांई भए धन मानवी,
तामें त्रिय की देह अधिक कर जानवी,
सन्तन को अंगसंग करे सोई श्रेष्ठ है!
हर हाँ श्रीरंग - ऐसा उपदेश, सो पाजी भ्रष्ट है!'[69]

ऐसे-ऐसे भ्रष्ट बाबा-वैरागियों ने समाज में धर्म-विधि के नाम पर व्यभिचार को इतना प्रोत्साहन दिया था कि ब्रह्मचर्य और संयम नाम की भारतीय परम्परा के चिथड़े उड़ गए थे।

भगवान स्वामिनारायण ने स्त्री-उद्धार के लिए सबसे बड़ा कदम यही उठाया कि अपने सन्तवृन्द को उन्होंने शुद्ध अष्टांग ब्रह्मचर्य के नियमों में बान्धकर पवित्र सन्त परम्परा का गठन किया। इसी के साथ सम्प्रदाय में स्त्री भक्तों की भ्रष्टता का मार्ग पूर्णतः बन्द हो गया तथा स्त्रियों को भी सत्यासत्य का भेद स्पष्ट होता चला गया। सन्त के रूप में आए लम्पट बाबाओं को वे दूर ही से पहचानने लगीं! इसी के साथ उनका आत्मविश्वास भी जाग उठा।

मठों-मन्दिरों को भ्रष्टता के मलिन साये से निकालने के लिए उन्होंने स्त्रियों के लिए अलग मन्दिरों का भी निर्माण करवाया, ताकि किसी भी परिस्थिति में वह विकृत पुरुषों के या असन्तों के शिकंजे में फँसने से बच जाएँ!

जब साधना का अलग ही स्थान मिला तो स्वाभाविक ही था कि स्त्रियों को कुछ न कुछ कथा, कीर्तन या ग्रन्थपठन स्वयं ही करना पड़ता! परन्तु न उन दिनों स्त्री-शिक्षा का वातावरण था, न उनको शिक्षा देने की आवश्यकता ही समझी जाती थी! जब कि भगवान स्वामिनारायण ने ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि स्त्रियों के मन में पढ़ने की ललक जाग उठे। परिणामतः पढ़ाई की बाढ़ ऐसी चली कि सम्प्रदाय का अनुयायी प्रत्येक परिवार अपने घर की

---

68. स्वामी ब्रह्मानंदजी का प्रारम्भिक दीक्षित नाम था : स्वामी श्रीरंगदासजी।
69. ब्रह्मसंहिता : सम्पादक : मावदान रत्नु : पृ. १९९।

स्त्री सदस्यों को पढ़ाने लगा! जो कि स्त्री परिवर्तन का स्वप्न साकार बनानेवाली एक अनन्य घटना सी बन गई! 'अनेक स्त्रियों ने प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए इस सम्प्रदाय को स्वीकार किया!'[70]

उन्होंने स्त्री को 'जीवन' दिया, उनके लिए चरित्रनिष्ठ लड़कों के निर्माण की प्रतिज्ञा करके स्त्री का 'पोषण' किया। परन्तु उनके आत्मिक उद्धार के लिए उनके अलग मन्दिरों की व्यवस्था से उन्होंने मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास का भी अवसर दिया।

ईश्वर पटेलीकर लिखते हैं, 'श्री स्वामिनारायण ने स्त्रियों के द्वारा ही स्त्रियों के ज्ञान एवं कीर्तन आदि की व्यवस्था की, जिससे अक्षरज्ञान लेना उनके लिए अनिवार्य हुआ। तत्कालीन स्त्रीवर्ग प्रायः निरक्षर ही था, लेकिन स्वामिनारायणीय स्त्री वर्ग की साक्षरता का स्तर काफ़ी ऊँचा दिखाई दे रहा था। स्त्री भी धर्मशिक्षण के प्रचार से वंचित न रहे, ऐसी व्यवस्था उन्होंने स्वाभाविक तौर पर खड़ी कर दी थी!'[71]

भगवान स्वामिनारायण ने अलग मन्दिरों के साथ ही उत्सवों के अवसर पर स्त्री भक्तों को सेवा तथा श्रमयज्ञ में जोड़ने की परम्परा प्रारम्भ की। इसी के साथ उनकी सुप्त शक्तियों को मानो पंख लग गए! चित्र-कला, रसोई कला के साथ साथ गृहकला का ऐसा तांता चला कि अपने परिवार की आर्थिक स्थिति के सुधार में भी उन्हीं स्त्रियों का योगदान बड़े स्वस्थ ढंग से होने लगा।

जेतलपुर गाँव की गणिका सर्वथा उपेक्षित स्त्री थी, स्वामिनारायण भगवान ने उनकी भावना को देखते हुए महान अहिंसक यज्ञ के अनाज को पीसने की थोड़ी सी सेवा उसी के हाथों भी सौंपी थी और सन्तों-भक्तों के संघ के साथ उस पतित नारी के घर को पावन किया था। उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्दजी से कहा था कि 'मैं इस स्त्री का तुम्हारे समान कल्याण करूँगा क्योंकि मैं उसके भीतर के भक्तिभाव को जानता हूँ। आप लोग बाह्यदृष्टि से लोगों के व्यक्तित्व का लेखाजोखा करते हैं, जब कि मैं उनकी आत्मा

---

70. श्रीमती शान्ता गांधी, स्त्री उत्कर्ष प्रवृत्ति के कार्यकर।

71. श्री स्वामिनारायण अने सनातन हिन्दू प्रवाह - ले. ईश्वर पटेलीकर (गुजराती), पृ. २३।

की और देखता हूँ।'

इस प्रकार एक वेश्या को उन्होंने बड़े ही सहजभाव से उन्नत और सम्माननीय स्थान प्राप्त कराया था![72]

धर्मपुर राज्य (वासंदा, जि. वलसाड़) की महारानी कुशल कुंवरबाई को भी उत्तम स्त्री-भक्त बनाकर श्रीहरि ने गणिका से लेकर महारानियों तक संस्कारिता, शिक्षण और अध्यात्म का संचार करके स्त्रियों की सर्वांगीण प्रगति की।

गुजरात के प्रसिद्ध साहित्य सर्जक ईश्वर पेटलीकर ने लिखा है, 'जिन दिनों प्रत्येक धर्माचार्य स्त्रियों को उपेक्षित करार दिया करते थे, उन दिनों इस सम्प्रदाय ने स्त्रियों को विशेष प्रतिष्ठा दी। पुरुषों के समान उनको भी स्वतन्त्रता की हवा दिलाने का सफल प्रयास किया, स्त्रियों के साथ पवित्र व्यवहार करने का सफल सद्बोध दिया। विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए ठोस कदम उठाए।'[73]

ए. के. मजुमदार के अनुसार भगवान स्वामिनारायण के समय से ही इस सम्प्रदाय के स्त्री-पुरुषों के अक्षरज्ञान की प्रतिशतता अग्रसर रही।[74]

उत्सवों के नाम पर स्वच्छंदता का विस्तार श्रीहरि को रंचमात्र अपेक्षित नहीं था। परन्तु उन दिनों होली तथा विवाह-उत्सव पर बीभत्सता का ऐसा ज्वार चढ़ता कि तमाम मर्यादाएँ अपनी सीमा लाँघकर रह जातीं। गीतों की अश्लीलता के स्थान पर भगवान स्वामिनारायण ने अपने समर्थ सन्त कवियों को ऐसे-ऐसे पद गाने का आदेश दिया कि लोग प्रेमानन्द स्वामी तथा मुक्तानन्द स्वामी रचित राधा-विवाह और रुक्मिणी-विवाह के भक्तिपद गाकर उत्सवों को सात्त्विकता देने की प्रक्रिया में जुट गए।

सधवा तथा विधवा स्त्रियों की आदर्श जीवन-शैली का नियमन उन्होंने मुक्तानन्द स्वामी के 'सतीगीता' ग्रन्थ से करवाया।[75]

---

72. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/३५३ ले. ह. त्रि. दवे.

73. उपरोक्त पुस्तक : पृष्ठ २२ से २९ का सार संक्षेप.

74. Bhakti Renaissance.

75. इस ग्रंथ पर फ्रैन्च विदुषी मेलिझाँ फ्राँन्स्वाँ ने अभ्यासपूर्ण शोधनिबन्ध लिखा है, जो कि पेरिस से प्रकाशित किया गया है.

'स्त्रियों का मोक्ष सम्भव नहीं है!' ऐसी बेतुकी मान्यताओं को उन्होंने नकार दिया, अपने उपदेश वचनों में वे कहा करते थे कि 'शरीर चाहे पुरुष का हो या स्त्री का, आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर के अलावा आत्मा की महिमा ही अधिक है, शरीर तो मायिक तथा नाशवान है, और आत्मा न तो पुरुष है, न स्त्री! वह तो सत्तामात्र चैतन्य है...।'[76]

ऐसे उपदेश का लाभ स्त्री-भक्तों को भी मिलता रहता था, परिणाम यह निकला कि जीवुबाई, लाडुबाई, मीणबाई, राजबाई, राईबाई, कुशलकुंवर बाई, रामबाई आदि संयम और ब्रह्मचर्य की प्रतिमा के समान, तेजस्वी स्त्री-समुदाय गुजरात की धरती पर निखरने लगा।

इनमें से कोई समाधिनिष्ठ थीं, कोई ब्रह्मचारिणी एवं संन्यासिनियों सी वैराग्यवतीं थीं, कोई अपने पुत्र की मृत्यु को भी आत्मज्ञान से देखकर स्थितप्रज्ञ रहनेवाली सांख्यनिष्ठ थीं तो कोई पराभक्ति की मूर्तिमंत प्रतिमा थीं। निम्न जाति की होने के बावजूद सगराम वाघरी की पत्नी के समान कोई अत्यंत धर्मनिष्ठ और ईमानदार थीं, तो कोई ऐसी भी थीं, जो अपने बोध-वचनों से बड़े-बड़े राजकवियों के अहंकार को विलीन करके उन्हें अध्यात्म के राजमार्ग की ओर उन्मुख कर देती थी।

भगवान स्वामिनारायण ने महर्षि मनु की इस पंक्ति को सार्थक किया : 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता!' स्त्री की अनन्त शक्ति की उन्हें अनूठी पहचान थी, वे ठीक तरह समझते थे, बिना स्त्री-उद्धार समाज का सामाजिक उत्कर्ष असम्भव है, यदि भारत को विकास की डगर पर चलाना हो, तो इस देश की माताओं को नैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शन देकर उनका सर्वांगीण विकास करना ही अनिवार्य है। इस उद्देश्य को उन्होंने कुछ ही वर्षों के भगीरथ प्रयास से पूर्ण कर दिया!

इस संदर्भ में गांधीवादी चिंतक किशोरलाल मशरुवाला ने कहा था, 'स्त्रियों को समाज एवं सम्प्रदाय में विशिष्ट स्थान देकर उनकी उन्नति करनेवाले एक सहजानन्द स्वामी ही थे।'

अध्यात्म के आधारस्तंभ का निर्माण करने के लिए भगवान स्वामिनारायण ने समग्र गुजरात में ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया था कि

76. वच. ग. अं. २२।

सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भीनी सुगन्ध फैलने लगी। भारत माता की पुत्रियों ने स्वयं के साथ समाज को नैतिक और शैक्षणिक प्रकाश देने के लिए अध्यात्म तथा शिक्षा की मशाल अपने हाथों में उठा ली थीं।

'सिटीज़ ऑफ गुर्जराष्ट्र' में ही इतिहासविद् हेन्री ब्रिग्स ने लिखा था : 'केवल शुद्ध हिन्दू-धर्म की चुस्त पुनःस्थापना करने में ही भगवान स्वामिनारायण की प्रतिभा सीमित नहीं रह गई थी अपितु तत्कालीन कुप्रथा एवं दूषणों से पीड़ित हज़ारों बदनसीब ऐसे-ऐसे लोग भी थे जो कि मात्र जुर्म के खतरनाक कारनामों से ही अनिश्चित तौर पर अपना गुजारा किया करते थे, उन लोगों के उत्कर्ष में भी उनके ऐश्वर्य के दर्शन हुए थे। समाज के अनेक समुदायों को उन्होंने प्रामाणिक एवं उद्यमी जीवन के मार्ग पर आगे बढ़ने को प्रोत्साहित किया था। उन्हीं समुदायों में से उनकी सफलता के अनेक प्रमाण प्राप्त हो सकते हैं। कुछेक वर्ष पूर्व के समय की अपेक्षा, देश की वर्तमान परिस्थिति इतनी अच्छी है कि बड़े-बड़े ग्रन्थ भी भगवान स्वामिनारायण की महिमा की गाथा गाते रहेंगे।'[77]

आहत हुई अन्धश्रद्धा

उन दिनों शिक्षा का अभाव था। सदाचार या सद्विचार का प्रचार ऐसी कुंठा में फँसा हुआ था कि लोग अपने अन्धविश्वास और वहम के परिणामस्वरूप स्वयं अपने जीवन को बरबाद कर चुके थे। कल्पित तथा

77. 'But the genius of Sahajanand Swami (Swaminarayan) was not confined simply to the rigid restablishment of Hindu worship in virginal integrity it was also directed against the irregularities of the age and to the recovery of thousands of those unfortunate men to be found throughout Gujarat, whose means of subsistence hitherto were equally lawless and precarious : of his success in this latter respect there is abundant testimony, from the vast hordes who have been reclaimed to honest and industrious pursuits - while the present undisturbed state of the country compared to its condition previously will speak volumes for him!' - Cities of Gujarashtra - H. G. Briggs. P. 233.

मलिन देवी-देवताओं की उपासना का वह विशेष युग था!

भगवान स्वामिनारायण ने बचपन से ही ऐसे बाबा-बैरागी, फ़कीर, डोरा-धागा करनेवाले ओझाओं को देखा था। कालीदत्त तथा कौशिक उनके परिवार में दूर के मामा होते थे, उनकी मलिन साधना का कुप्रभाव उन्होंने बचपन से स्वानुभूत किया था।[78]

सात वर्षों के वनविचरण में भी उन्होंने अज्ञानता और जड़ता के शिकंजे में फँसे हुए हज़ारों लोगों को बाबाओं, ओझा और आडम्बरी फकीरों के चंगुल में तड़पाते हुए देखा था। लोगों में शकुन, अपशकुन, मंतर-मूठ आदि का इतना खौफ़ था कि मुट्ठीभर उड़द के दाने को मन्त्रों के साथ फेंकते हुए किसी ओझे को देख ले, तो पूरा शरीर सूखे पत्ते की भांति थरथराने लगता। बीमारी में चिकित्सा के बजाय डोरे डालने में किसी को भी हिचक नहीं थी! लोगों की भीरु मानसिकता को परख कर ही धूर्त ओझे तथा कपटी बाबा अपनी रोटी सेंक लेते थे। न उनके पास नीति-धर्म का बल था, न सर्वशक्तिमान भगवान की सच्चे अंतःकरण से शरणागति थी।

समाज की ऐसी दुर्गति देखकर सहजानन्द स्वामी की करुणा की गंगा गाँव-गाँव की छोटी से छोटी झुग्गियों तक बहने लगी। सब से पहले उन्होंने सन्तों द्वारा भगवान की अनन्त-अपार शक्तियों पर लोगों को विश्वास रखने के लिए तैयार किया। विविध मलिन देवी-देवताओं की श्रद्धा अन्धानुकरण में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती, इस सत्य को समझते हुए एक ही देव की, परम शक्तिमान एक परमात्मा की ही निष्ठापूर्वक उपासना करने का ऐसा क्रान्तिचक्र घुमा दिया, जिसके नीचे ओझाओं के प्रति लोगों के अन्धविश्वास की ठीकरियाँ फूटने लगीं। परमात्मा की शक्ति में अडिग विश्वास और तंत्र-मंत्र के प्रति उपेक्षा-भाव के फलस्वरूप धीरे-धीरे प्रजा भीतर से चट्टान की तरह सुदृढ़ होने लगी।

भगवान स्वामिनारायण ने अपने आश्रितों को सदा निर्भय रहकर भगवान की उपासना करने के लिए एक अविस्मरणीय पत्र लिखा, जो आज भी हमें प्रतीति दे रहा है कि अन्धानुकरण को कुचलने के लिए उनका प्रयास कितना प्रभावशाली था। यह रहा वह प्रासादिक प्रेरणापत्र :

78. भगवान स्वामिनारायण : १.२२९-२३६ का संक्षेप. लेखक : ह. त्रि. दवे।

'श्री अनिर्देश[79] से लिखावितं स्वामीश्री सहजानन्दजी महाराज की ओर से सभी सत्संगी बाई-भाइयों को नारायण!

'विशेष, लिखने का कारण यह है, कि मनुष्य को अपने प्रारब्ध के अनुसार ही दैहिक सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं तथा कर्म के अनुसार ही उसको जन्म-मरण भी लगा रहता है। किन्तु जीव के प्रारब्ध कर्म को लाँघकर तो भैरव-भवानी आदि अनेक देव-देवियाँ भी उस जीव को सुख-दुःख देने में या मारने-जीने का निर्णय देने में समर्थ नहीं हैं। कर्म तथा महाकाल के प्रभाव को ध्वस्त करने का तथा मृत व्यक्ति को जीवनदान देने का एवं सजीव को निर्जीव करने का सामर्थ्य एक मात्र परमेश्वर नारायण के सिवा अन्य किसी देवी-देवता में नहीं है!

'अत: एक परमेश्वर के दृढ़ आश्रय में रहकर सदा भजन करने में लीन रहना, तथा किसी देव-देवियों का भय मत रखना। हम तो भगवान के भक्त हैं, अत: हमें किसी प्रकार का भय रखना उचित भी नहीं है। जादू-टोना आदि से यदि कोई भी मनुष्य जीवित रहता होता, तो आज पृथ्वी पर किसी एक को तो हमने देखा होता! लेकिन ऐसा कोई अमर व्यक्ति हमें देखने को नहीं मिलता।

'जादू-टोना, जंतर-मूठ्ठ अगर किसी भी व्यक्ति को परेशान कर सकते हैं, तो क्यों न वे उस राजा को मौत के घाट उतार देते हैं, जिनके अधिक से अधिक दुश्मन उसको मारने-मिटाने के लिए तुले रहते हैं। 'जंतर-जादू से ही सिद्धि मिलती हैं,' ऐसा कहना तो और भी गहरे अज्ञानता की निशानी है! यदि ऐसा ही होता, तो क्यों हज़ारों रुपये का खर्च करके राजा लोग प्रशिक्षित सैन्य का बन्दोबस्त करते हैं! क्यों आयुध-सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में रखते हैं! उनको तो केवल एक भारी मन्त्र-शास्त्री (ओझा) को ही रखना चाहिए, ताकि मलिन मन्त्र-तन्त्र की सिद्धियों से वह हज़ारों दुश्मनों का संहार कर सके! किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है।

---

79. 'अनिर्देश' का अर्थ है, अक्षरधाम मायातीत भूमिका। भगवान स्वामिनारायण की विशेषता थी कि पत्र लिखने या लिखाते समय वे गढ़पुर, कारियाणी आदि स्थान का उल्लेख करने के बजाय 'अनिर्देश' लिखकर अक्षरधाम का उल्लेख किया करते थे।

'अतः निर्भय होकर नारायण का भजन करना तथा केवल भगवान में ही विश्वास रखना। भगवान ने जैसा सोचा है, वैसा ही होनेवाला है। अतः परब्रह्म पुरुषोत्तम के आश्रय में रहकर निर्भय होकर नारायण का भजन करना! पत्र लिखने का हमारा यही मुख्य उद्देश्य है!'

भगवान स्वामिनारायण का यह उपदेश एक संदेश बनकर फैल गया। लोगों में 'भगवान ही कर्ता हैं तथा सर्वोपरि हैं' यह भावना सुदृढ़ होने लगी। योगी, यति, भैरव, भवानी, कल्पित देव-देवियाँ, वीर-पीर, डुग्गी-डोरा, शकुन-अपशकुन आदि का भय जब लोगों के जेहन से दूर हुआ तो पूरे समाज में निर्भयता और निर्मलता का उजाला पसरने लगा।

तान्त्रिक चढ़े त्याग के मार्ग पर

भगवान स्वामिनारायण अपने भक्तों के समक्ष स्वयं के आचरण से ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर देते थे कि लोगों के हृदय में निर्भयता का सहज ही संचार हो जाता था।

एकबार वे जूनागढ़ पधारे थे। यहाँ एक बावड़ी के समीप छोटी-सी सभा में कुछ उपदेश-वचन दे रहे थे। अचानक कहीं से कुछ तान्त्रिक श्रीहरि के साथ बवाल मचाने आ गए। किसी ने तो धृष्टतापूर्वक श्रीहरि के ऊपर उड़द के दाने छोड़कर अभिचार-मन्त्र प्रयोग करना शुरू कर दिया। यह देखकर सब विस्मित हो रहे थे कि सेर-डेढ़ सेर दाने छोड़ने के बाद भी सहजानन्द स्वामी के ऊपर किसी भी प्रकार का असर नहीं होता था। अब तान्त्रिकों में घबराहट फ़ैलने लगी। सभी ने श्रीहरि की अपार महिमा समझकर क्षमा-याचना की और वर्तमान धारण करके महाराज के आश्रित हुए।

अब सभा में उपस्थित भक्तजनों को श्रीहरि ने सहज ही उपदेश दिया और कहा, 'आपने देखा, भगवान की शक्ति अनन्त और अपार है। एक वही सर्वकर्ता है और वही सर्वसत्ताधीश है। कोई भी क्षुद्र देवी-देवता या ग्रह-पनौती अथवा मन्त्र-अभिचार मनुष्य की हानि नहीं कर सकते। अतः वहम में न फँसते हुए केवल एक परमात्मा की शुद्धभाव से उपासना करना हमारे लिए श्रेयस्कर बनता है।'[80]

---

80. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण. : ह. त्रि. दवे : पृ. २/१४३।

बंगाल से आया हुआ एक भयंकर तान्त्रिक मगनीराम पूरे गुजरात में अपने नंग-धड़ंग वैरागियों के साथ घूमता हुआ न केवल लोगों पर कहर ढा रहा था, बल्कि छोटे-बड़े राजाओं तथा ठाकुरों को भी अपनी लपेट में ले चुका था। जब मांगरोल के एक गोसांई तथा नवाब साहब ने उसे स्वामिनारायण के साथ भिड़ने के लिए ललकारा, तो वह अपना पूरा 'सैन्य' लेकर बाबा-वैरागियों तथा हथियारों के साथ श्रीहरि को ललकारने के लिए आ पहुँचा। मन्त्र-प्रयोग तो उसने बहुत किया, परन्तु उसकी एक न चली। तब निराश होकर रात के समय उसने अपनी आराध्या देवी से गिड़गिड़ाकर प्रार्थना की, 'हे देवी, यदि तुम्हारा सत् हो तो स्वामिनारायण और उसके भक्तों का सत्यानाश कर दो।' देवी ने उस रात इस अहंकारी मगनीराम को दर्शन देकर कहा, 'अरे मगनीराम! तू किस हेतु घर-संसार का त्याग करके साधना के लिए निकल पड़ा था! और आज तूने मन्त्र के दुरुपयोग से अपनी कैसी गत बनवाई है! तू नहीं जानता कि यह स्वामिनारायण तो हमारे देवों के भी देव हैं। सर्वावतारी परमात्मा हैं। हम उसके साथ मिड़ने की तो सोच भी नहीं सकते। क्योंकि हम भी उनके शरणागत है और मेरा आदेश है कि तू भी उनकी शरण में जाकर अपना जीवन सार्थक बना ले।'

मगनीराम की आँखें खुल गईं। अपने हर आडम्बरों को छोड़कर अहंशून्य बनते हुए मगनीराम, भगवान स्वामिनारायण के शरणागत हुए। श्रीहरि ने उनकी विनम्रता की इस हद तक कसौटी की कि उन्होंने मग़नीराम को आदेश दिया कि सन्तों के जूते इकट्ठे करके अपने मस्तक पर धारण करो और सन्त-सभा की प्रदक्षिणा करो। जब मगनीराम ऐसी कसौटी से उत्तीर्ण हुए तब श्रीहरि ने उनको त्यागीदीक्षा देकर मगनीराम से 'स्वामी अद्वैतानंद' बना दिया।

लोग ऐसे-ऐसे तान्त्रिकों को अपनी शरण में झुकानेवाले अपने इष्टदेव को देखते, तो न केवल उनके हृदय से अन्धश्रद्धा का अन्धकार दूर होता परन्तु उनके हृदय में एकनिष्ठ भक्ति का शौर्य भी पनपने लगता।[81]

गढ़पुर के गुर्जर सुतार खीमजी को अपने व्यवसाय के उद्देश्य से सूरत

81. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, १/४९७ : ले. ह. त्रि. दवे।

जाना था। उन्होंने भावनगर से सूरत की ओर जानेवाली नौका में यात्रा करने का निश्चय किया। यात्रा में एक ब्राह्मण तांत्रिक भी था, जिसकी कुदृष्टि खीमजी के रुपयों पर गड़ी हुई थी। रात के अन्धेरे में जब खीमजी सो गए, तो तान्त्रिक ने उठकर उन पर मलिन अभिचार प्रारम्भ कर दिया। उड़द के दाने डालकर मारण-प्रयोग करने में वह इतना माहिर था, कि लोग मारे भय के काँपते हुए मौत की नींद सो जाते थे। आज उसने इस विद्या का प्रयोग कर दिया था। आध सेर से अधिक उड़द डाल देने के बाद उसको निश्चित हो गया कि खीमजी का काम तमाम हो गया होगा! लेकिन... यह क्या? खीमजी तो प्रातःकाल बड़ी स्वस्थता से उठ गए! चारों ओर पड़े उड़द के दाने देखते ही उनको तान्त्रिक के अभिचार के विषय में मालूम हो गया। वे तनिक मुस्कुराए और धीरे-धीरे उड़द के दाने इकट्ठे करके अपनी झोली में भर लिए। तान्त्रिक ब्राह्मण हैरत से देख रहा था कि यह अभिमन्त्रित ऊड़द का कैसा उपयोग करेगा? उसने सूरत शहर में उतरते ही खीमजी का पीछा किया। खीमजी ने स्नान, ध्यान और पूजा के बाद उड़द की थैली निकालकर साफ करके मिट्टी के बर्तन में रखते हुए चूल्हे पर चढ़ा दिया। दाल तैयार होते ही प्रभु को नैवेद्य लगाकर पूरी दाल हजम कर ली!

ब्राह्मण का हृदय तेजगति से धड़कने लगा। उसको यह भय लगा कि खीमजी तो मेरे से भी बड़ा तान्त्रिक होना चाहिए, वरना इतने-इतने मन्त्रों का प्रयोग आज इस पर क्यों निष्फल हुआ? ब्राह्मण ने खीमजी से क्षमायाचना की और इतनी निर्भयता का रहस्य पूछा तो खीमजी ने बड़ी सरलता से कहा था, 'भगवान स्वामिनारायण ने हमें सिखाया है कि एक भगवान के आश्रय के बिना हमें किसी मलिन देवी-देवताओं से डरना नहीं चाहिए। सर्वशक्तिमान परमात्मा की शक्ति के बिना हम किसी मलिन शक्ति से नहीं डरते! क्योंकि परमात्मा से बढ़कर कोई और शक्ति अधिक हो ही नहीं सकती और भूदेव, आपसे भी हमारा निवेदन है, कि आप भी इस प्रकार के ढोंग-उपद्रव को छोड़कर उन्हीं की शरण में चले जाओ और अपनी आत्मा का उद्धार करो!'

आश्चर्य यह हुआ कि उसी दिन उस तान्त्रिक का हृदय परिवर्तन हुआ, श्रीहरि की शरण में स्थान लेकर वे उन्हीं की परमहंस मंडली में

त्यागी बनकर रह गए। उनका नाम रखा गया : स्वामी शून्यातीतानन्दजी![82]

निष्ठा एक इष्टदेव की

सौराष्ट्र के छोटे-से गाँव मोतीगर में चार भाईयों के परिवार में एक ही पुत्र पल रहा था। युवा अवस्था में ही जाने किसीने उसके प्राण निकाल दिए हो, ऐसे मुर्दे के समान जीने लगा। पूरा शरीर इतना रोगग्रस्त था कि न कोई औषध उसके रोग पर प्रभाव डालती, न कोई उसके बचने की आशा बनती थी। गाँव के वहमी लोग चारों भाईयों को झाड़-फूँक कराने का, ओझाओं से डुग्गी बिठाने तथा वीर-पीर की मनौती करने का दुराग्रह करने लगे, किन्तु ये तो सहजानन्दी सिंह थे! किसी ने किसी की एक न सुनी! चारों एक सुर से कहते रहे, 'जो भी प्रभु इच्छा से होगा, हमें मंजूर होगा!'

'लेकिन यदि यह मर जाएगा तो तुम हाथ मलते रह जाओगे!' लोग, भाइयों को डपटकर बोल देते थे, 'आपको कुछ डोरे-धागे तो करने ही चाहिए!'

चारों सत्संगी भाइयों ने इन जड़ आदमियों के हंगामे से बचने के लिए एक उपाय सोच लिया। चारों में से एक दुदाभाई अपने खेत पर एक कंबल लेकर पहुँच गए, उसमें से काले ऊन की कुछ डोरियाँ खींच निकालीं, फिर 'स्वामिनारायण स्वामिनारायण' मन्त्रोच्चार के साथ सात गाँठ लगाकर पुत्र की कलाई पर बाँध दी! सब सम्बंधी प्रसन्न हो गए, और आश्चर्य यह हुआ कि बुखार उतर गया! लोग कहने लगे, 'देखी ओझा की ताक़त! कैसा स्वस्थ हो गया लड़का! आइन्दा जिद्द मत करना।'

दुदाभाई ने बीच में ही बात काट दी, और धीरे से कहा, 'व्यर्थ की खुशी मनाना बन्द करो भाईजान! देखिए यह कम्बल! मैंने स्वयं इसमें से कुछ डोरियाँ खींचकर 'स्वामिनारायण' मन्त्र बोलकर इसकी कलाई पर बाँध दी थीं! इसमें तेरे ओझा-बोझा का कुछ कमाल नहीं है!'

गाँव के लोग इन भाइयों को मुस्कुराते हुए देखकर ठगे से रह गए![83]

---

82. सद्. अक्षरानंद स्वामी की बातें - पृ. ९३ से संक्षेप।
83. स्वामी कृष्णचरणदासजी - जीवनचरित : पृ. ११२।

ऐसा ही एक धूर्त माताजी के नाम से गाँव-गाँव लोगों को ठगता चला आ रहा था। देतड़ (जिला : अमरेली) गाँव में स्वामिनारायणीय सत्संगी मावजीभाई के घर भिक्षा के बहाने पहुँच गया। अगली साल इसी घर से उसने अच्छी भिक्षा पाई थी और मावजीभाई की पत्नी को 'माताजी की कृपा से पुत्र होने' के आशीर्वाद दिया था।

सुयोग ऐसा हुआ कि मावजीभाई के घर पुत्रजन्म हो गया, तो ब्राह्मण ने सोचा बात बराबर जम गई है, क्यों न इसका फ़ायदा उठाया जाय? वह मावजीभाई की पत्नी से कहने लगा, 'मेरे आशीर्वाद से आपके घर पुत्र जन्म हुआ है, अतः मुझे यह चीज़ दो, वह चीज़ दो।'

उस स्त्री ने कहा, 'आपके कहे अनुसार तो मैं नहीं दे सकती, क्योंकि 'वे' आ जाएंगे, तो मुझे डाँट खानी पड़ेगी!'

किन्तु ब्राह्मण जो था! सरलता से जानेवाला नहीं था। उसने मावजीभाई के आने की प्रतीक्षा की, यह सोचकर कि वे तो प्रसन्न होकर मुझे निहाल कर देंगे!

मावजीभाई आए और ब्राह्मण ने तपाक से अपना प्रस्ताव रख दिया कि मावजीभाई, मेरे और माताजी के आशीर्वाद से तुम्हारे घर पुत्र का जन्म हुआ है, तो मुझे भरपूर दक्षिणा मिल जानी चाहिए।

मावजीभाई उसको पलभर देखते रह गए, फिर घर में जाकर पालने में सोये हुए शिशु को उठा लिया, बाहर आकर उस ब्राह्मण की गोद में रख दिया, फिर कहा, 'लीजिए, आपकी माताजी का दिया हुआ उपहार! मुझे तुम्हारी माताजी का दिया हुआ नहीं, मेरे भगवान का दिया हुआ पुत्र चाहिए था, समझे!'

ब्राह्मण बेचारा! क्या बोल सकता था! बस यूँही मुँह लटका कर चलता बना!

धूर्तों की कपटलीला का स्वामिनारायणीय सन्तों-भक्तों ने इस हद तक पर्दाफ़ाश किया था कि ऐसे लोग सत्संगी के घर पर फटकते ही नहीं थे।

वहम की औषधि कहीं नहीं मिलेगी, इस सूक्ति को सार्थक बनाते उस युग में भगवान स्वामिनारायण ने सूत्र दिया था, वहम की औषधि है परमात्मा की शक्ति में विश्वास! भगवान के स्वरूप में अविचल निष्ठा।

यहाँ याद रखना चाहिए कि उन्होंने केवल देवी-देवताओं की तामसी साधना का विरोध किया था, जिससे कि सामाजिक जड़ता को और लोगों की मानसिक दुर्बलता को बढ़ावा मिलता हो! जब कि सात्त्विक देवी-देवताओं की सात्त्विक साधना के लिए तो उन्होंने अपने ही हाथों मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठा की थी, तथा विष्णु, शिव, पार्वती, सूर्य, गणपति, हनुमानजी आदि सनातन धर्म के आदरणीय स्वरूपों का आदर उन्होंने पूरे अनुयायी वर्ग में अच्छी तरह बढ़ाया था![84]

भूतप्रेतादि के उपद्रव के समय, या सांसारिक समस्याओं को सुलझाने के समय उन्होंने 'स्वामिनारायण' महामन्त्र के जप का ही आदेश दिया था।

आज भी इस मन्त्र के अपार सामर्थ्य का सहस्त्रों मुमुक्षुओं को स्वानुभव होता रहा है। बीमारी के समय, भूत-प्रेतादि के उपद्रव में किसी भी प्रकार की आधि, व्याधि, उपाधि में श्रद्धापूर्वक किया गया 'स्वामिनारायण' मन्त्र-स्मरण इतना प्रभावक है कि किसी भी पल किसी भी दु:ख में किसी का भी साथ निभा लेता है! इस प्रकार एकनिष्ठा का आधार देकर तथा समस्याओं का निराकरण करके भगवान स्वामिनारायण ने पूरे समाज को अन्धविश्वास के भयानक खन्दक से अपने भगीरथ पुरुषार्थ के द्वारा उबार लिया था।

ऐसी अनेक अज्ञानजन्य परम्पराओं को ध्वस्त करके युग के पुनर्निर्माण और सदाचार अर्थात् 'धर्म,' तथा 'वहममुक्ति' अर्थात् 'एकनिष्ठ भक्ति' के द्वारा एकान्तिक धर्म की स्थापना के लिए भगवान स्वामिनारायण ने जो कदम उठाए, उसके फलस्वरूप आज भी समाज सुख और शान्ति के मार्ग पर अविचल हो चलता रहा है।

स्वामी प्रेमानन्दजी ने श्रीहरि के कार्यों को उचित अंजलि दी है :

कलि में साचो सत्युग आयो,
स्वामिनारायण देव प्रकट भए,
मुनिजन मन हरखायो...।

---

84. शिक्षापत्री : ८४।



भक्तिपूर्ण उत्सवों के पोषक एवं प्रवर्तक भगवान स्वामिनारायण सन्तों-भक्तों के साथ फूलदोल की रंगलीला में...।

८

भक्तवत्सल हरि बिरुद तिहारो!

भूमि पर एक छोटा-सा रेखाचित्र फैला हुआ था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, झीणाभाई दरबार और कुछ सन्त उस पर झुके हुए थे और स्वामी सहजानन्दजी विचारमग्न मुद्रा में रेखाचित्र को एक टक निहार रहे थे। कुछ विचार-विमर्श के बाद झीणाभाई ने श्रीहरि से विनम्रभाव से प्रार्थना की, 'महाराज! यहाँ मन्दिर- निर्माण की सहमति दीजिए! बस, इतनी सी कृपा कीजिए!'

महाराज कुछ देर तक सोचते रहे, फिर सिर हिलाकर सहमति दे दी : 'मन्दिर-निर्माण बाद में करना। इस समय तो सन्तों की धर्मशाला का काम प्रारम्भ कर दो!'

सब बहुत प्रसन्न हुए। महाराज उठकर दरबार भवन के बाहर पधारे। कुछ दूरी पर उन्होंने रेत का ढेर देखा, वहाँ चलकर अचानक उस पर लेट गए और बोले, 'साधुओं को क्या चाहिए! अलमस्ताई ही तो साधुओं की शोभा है! हमें तो ऐसी जड़भरत दशा ही पसन्द है!।'

इस अनासक्ति के मुकुट को सब देखते ही रह गए।

वरताल में मन्दिर-निर्माण हो रहा था। महाराज कामकाज देखने जाते, तो कहीं भी, किसी भी समय कथा करने का मन हो जाता और वे वहीं बैठकर कथा प्रारम्भ कर देते!

एक दिन मन्दिर की मुख्य सीढ़ी पर ही उन्होंने बैठक जमा दी! कथा प्रारम्भ हुई, तो एक पार्षद ने कहा, 'अभी-अभी आप के लिए आसन तैयार कर देता हूँ!'

स्मित करते हुए स्वामी सहजानन्दजी ने कहा था, 'देह को क्या आसन और शरीर का क्या सम्मान! भगवान के सैकड़ों भक्त इस सीढ़ी का उपयोग करते हैं, उनकी चरण रज का स्पर्श मिलता है, ऐसे महाभाग्य को मिटाकर हमें आसन से क्या मतलब?'

संसार में रहते हुए संसार की आसक्तियों से परे रहना - वास्तव में सन्तों के लक्षण हैं! जो स्वतः भीतरी आनन्द से परिपूर्ण रहता है, उसका संसारियों के सुख-दुःख के साथ भी उतना ही गहरा लगाव रहता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना वहाँ मूर्तिमंत दृश्यमान होती है।

आज भी हम आश्चर्य के महासागर में डूबते चले जाते हैं, कि ऐसी कौन-सी विशेषता थी भगवान स्वामिनारायण के कल्याणकारी व्यक्तित्व में, जो उन्हें बिना सुविधा के, बिना पैसों, बिना मानवशक्ति तथा बिना संचार साधनों के समय में सफलता के शिखरों तक पहुँचा सकी? किसी उच्च ध्येय पर पहुँचनेवाले लोग हमें आज भी बड़ी कठिनाई से मिलते हैं, जो एक जुट होकर कोई उत्तम उद्देश्य के पीछे लगे हुए हों! जब कि भगवान स्वामिनारायण ने उच्च आचारनिष्ठा का अनुसरण करके ब्रह्मरूप होने के उद्देश्य के कारण मर मिटनेवाले लोग सैकड़ों की संख्या में खड़े कर दिए थे।

इस चमत्कार का कारण था, उनका निःस्वार्थ स्नेह सम्पर्क! हर व्यक्ति के सुख-दुःख में घुल जाना! दुःख चाहे सामाजिक हो या आर्थिक, कौटुम्बिक हो या आन्तरिक, श्रीहरि न जाने कहाँ से जानकारी पा लेते और दुःख निवारण के लिए आत्मीय सम्पर्क का तार जोड़ देते।

उनको कहीं से खबर मिली कि मछियाव की राणी सुजानकुंवरबाई को सत्संगी होने के पश्चात् भी अपनी बहू के साथ तनिक भी पटती नहीं है। महाराज ने बहू से पूरी बात समझ ली! वही पुराना झगड़ा था, जो हर

घर में सास-बहू के अहं-टकराव से हुआ करता है! महाराज ने बहू को सांत्वना दी, और सास को स्वभाव सुधारने का उपदेश! व्यक्तिगत दुःखों में मनुष्य को वे वही आश्वासन देते थे कि मैं तुम्हारे साथ हूँ।

गरीब निवाज

वे लोगों की समृद्धि के दिन नहीं थे। हर घर में राजकीय अंधाधुंध के कारण मंद अर्थ व्यवस्था से उभरी कंगालियत अंगडाईयाँ ले रही थीं।

भुज का विश्राम भक्त एक खेत में मजदूरी कर किसी प्रकार से जी रहा था। महीदास नाम के किसान के खेत में मजदूरी करने पर भी उसे एक वक्त खाना भी बड़ी कठिनाई से नसीब होता था। किन्तु उसके मन में श्रीहरि को 'रसोई' देने का भक्तिभाव जाग उठा। एकबार इस गरीब की झोंपड़ी पर अचानक किसी ने दस्तक दी, तो विश्राम ने हड़बड़ाकर द्वार खोला, देखा तो मंद-मंद मुस्कुरा रहे थे भगवान स्वामिनारायण! विश्राम हर्ष के मारे नाच उठा। श्रीहरि ने उसके घर भोजन किया : मठ की खिचड़ी, वह भी बिना स्वाद की! आश्चर्य तो यह था, कि इस गरीब के घर में धातु का बर्तन तक नहीं था! भगवान ने एक चट्टान धोकर उसी पर रख कर 'खिचड़ी' खाई तो विश्राम गद्गद हो गया। भगवान को न ऊँच का भेद होता है, न नीच का! वे तो भक्तिभाव के पुजारी होते हैं। ऐसे सैकड़ों लोगों को, खास करके अकाल के समय श्रीहरि बहुत कुछ सामग्री भेजकर सहायता करते थे।

लोगों के पारिवारिक और आर्थिक दुःखों के साथ-साथ उनकी दृष्टि रहती थी व्यक्ति के आन्तरिक विकास की ओर। उसके सामाजिक या राजकीय दुःखों की ओर!

अचानक एक दिन वे आधी रात के समय गढ़पुर से विसनगर की ओर चल दिए! कारण यह था कि वहाँ का सत्ताधीश सूबा स्वामिनारायण के आश्रितों पर कहर बरपा रहा था! हरिभक्तों के क्रन्दन को सुनते हुए श्रीहरि की आँखें भी बह निकलीं! अन्त में मूलजी ब्रह्मचारी ने बड़े आग्रह से भगवान का साथ लिया। श्रीहरि विसनगर पहुँचे, तो सूबेदार को देखकर उनकी आँखों से पुण्यप्रकोप बरसने लगा। वे महल में जाकर सीधे उसी

के सिंहासन पर बैठ गए और डपटकर कहा, 'लालदास! उच्च नागरों के कुल में जन्म हुआ है, फिर भी कुल के अनुसार आचरण करना तुमने नहीं सीखा! तुम्हारा हमने क्या बिगाड़ा है, जो आए दिन द्वेष की आग में अपने आप को झुलसाते रहते हो? इतना द्वेष तुम्हें जीते जी नरक की यातना के सिवा कुछ नहीं देगा।'

लालदास तुनक कर बोला, 'कोई नहीं डरता तुम्हारे नरक - स्वर्ग की बातों से। ऐसी बातों को तो मैं घोलकर पी गया हूँ।'

'अच्छा!' सहजानन्द स्वामी ने स्मित किया, 'तब तो अच्छा ही हुआ, जब तुम इस बात को पी गए हो तो पेट में जाकर कुछ हज़म भी तो होगी!'

लालदास की आँखों से अंगारे बरसने लगे। लेकिन वह कुछ बोल पाए उससे पहले ही श्रीहरि ने उसकी आँखों से अपनी दृष्टि गड़ाई, इसी के साथ वह 'समाधि' की नींद में सो गया। उसको नरक की यातना दिखाई दी। यमदूतों द्वारा उसकी भारी पिटाई हुई, इस भयंकर अनुभव से जब उसे जगाया तो उसके भीतर हाहाकार मच गया। आँखों से पश्चात्ताप के आंसू बह रहे थे। गिड़गिड़ाकर वह श्रीहरि के चरणों में गिर गया। अब स्वामिनारायणीय सत्संग समाज सदा के लिए लालदास की यंत्रणाओं से मुक्त हो गया।

बाल-स्नेही

श्रीहरि को हर एक मुमुक्षु की चिन्ता थी, किसी का दुःख उनके लिए पराया नहीं था। सत्संग की जो खेती उन्होंने दिन-रात लगातार पुरुषार्थ करके लहराई थी, उसका परिणाम पीढ़ी-दर पीढ़ी सहस्त्रों वर्षों तक समाज को मिलता रहे, इसी उद्देश्य को उन्होंने विशेष दृष्टि से सिद्ध किया था! वह विशेष दृष्टि थी, समाज के भविष्य के समान बच्चों के भीतर विकास की सम्भावनाओं को देखना, तथा बच्चों के व्यक्तित्व में सत्संग के संस्कारों को एकरस करके मिला देना!

कितनी अद्‌भुत थी वह आर्षदृष्टि! आज तक किसी अवतारी महापुरुष की दृष्टि बच्चों की उन्नति की ओर गई हो, ऐसा सुनने को नहीं

मिला है, इतिहास भी इस विषय में मौन है! जब कि भगवान स्वामिनारायण ने एकान्तिक धर्म के विविध पहलुओं को आत्मसात् करनेवाले सन्तों-महन्तों, महान साधकों के अलावा उन छोटे-निर्दोष बच्चों की शक्तियों को भी प्रकट किया था।

बच्चों से उनका एक अलग ही आत्मीय नाता था! कभी लाड-दुलार तो कभी संवेदनाओं द्वारा, कभी शिक्षा-सिंचन तो कभी संस्कार-सिंचन द्वारा वे बालक के हृदय तक पहुँचते थे। बच्चों की भावनाओं को समझने, या उनकी आवश्यकताओं को पहचानने में उनको तनिक भी विलम्ब नहीं होता था। इस हिसाब से सम्प्रदाय में बालकों के मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के प्रारम्भिक सोपान श्रीहरि ने अपने समय में ही सिद्ध कर दिए थे।

उनके उपदेश का इतना गहरा असर होता था कि दादाखाचर की बहनों की सेवा में रहता बारह वर्षीय मुस्लिम बालक हसन भी एकादशी का व्रत करने लगा था। एक एकादशी को दोपहर के बाद उसे बड़ी जोरों की भूख लगी। जीवुबाई ने उसे चने देकर कहा, 'इसे सेंककर खा लो!' जब वह अंगीठी लेकर सेंकने लगा, उसी समय भगवान स्वामिनारायण ने अन्तयार्मीपन से जान लिया कि हसन खाने की कुछ तैयारी कर रहा है। वे उसी क्षण दरबार भवन में आ पहुँचे। श्रीहरि के आगमन की पुकार सुनाई दी तो हसन हड़बड़ाकर खड़ा हो गया कि अभी श्रीहरि ने देख लिया कि मैं एकादशी के दिन खा रहा हूँ तो अवश्य मुझे डाँटेंगे!' वह झट से अंगीठी समेत चने लेकर भाग खड़ा हुआ। ठोकर लगने से अंगीठी हाथ से छूट गई, लेकिन वह भाग गया। भगवान आ पहुँचे। बिखरा हुआ सामान देखा तो जीवुबाई ने हँसकर पूरी कथा सुना दी। श्रीजीमहाराज ने उस बालक को बुलाया। अभी तक वह काँप रहा था।

'बेटे, घबराना मत!' श्रीहरि ने उसके मस्तक पर वात्सल्य से हाथ रख दिया, 'देखो, आगे से निर्जला एकादशी मत रखना। फलाहार ही करना!' हसन ने आँसू भरी आँखें श्रीहरि की ओर उठाई। महाराज ने पूछा : 'भूख लगी है न? चलो, खा लो! इसमें डरने की कोई बात नहीं।'

बच्चा खुश होकर बिखरा हुआ सामान समेटने लगा...। इतना विशुद्ध प्रेम ही श्रीहरि की विलक्षण भावना को मुखरित करता है। वह भावना है :

विद्यादान की और संस्कारज्ञान की!

उनकी स्पष्ट धारणा थी कि बालक एक सुकुमार पौधे की तरह होता है। जिस ढाँचे में ढालो, वह उसी ढाँचे में अपने आपका विकास करता रहता है!

गढ़पुर के गिरासदार एभलखाचर के पुत्र दादाखाचर उन दिनों केवल सात साल के थे। श्रीहरि ने उसके विद्याभ्यास के लिए वढ़वाण गाँव के पंडित बेचर महाराज को नियुक्त किया। विविध ज्ञान में पारंगत इस महाशय ने दादाखाचर को अभ्यास आरम्भ करवाया, गान विद्या और नृत्य कला से।

एकबार घुँघरु की छमछम सुनकर श्रीहरि ने द्वार की दरार से अन्दर झाँका तो स्तब्ध रह गए। तुरन्त पंडितजी को बुलाकर विदा दे दी और सूरत के नरोत्तम कायस्थ को नियुक्त करके भाषा तथा हिसाबी कारवाई का प्रशिक्षण प्रारम्भ करवाया।

इस प्रकार के प्रशिक्षण की दादा के समान शूरवीर ठाकुरों के जीवन में तनिक भी आवश्यकता नहीं थी, तथा रजोगुण की भूमि पर ले जाकर जो विद्या भौतिकता की फिसलनी बनकर रह जाती, वह श्रीहरि को कभी स्वीकार्य नहीं थी!

❖ ❖ ❖

रोजका गाँव से जाते हुए श्रीहरि ने कुछ बच्चों को खुले मैदान में खेलते देखा, तो पलभर अपनी घोड़ी वहीं खड़ी कर दी!

बच्चे श्रीहरि को देखते ही दौड़ पड़े: 'महाराज आए! महाराज आए।'

बच्चों के प्रेमवश, वे घोड़ी से उतरकर एक घने वृक्ष की छाँव में बैठे। बच्चे सब एकटक भावविभोर मुद्रा में श्रीहरि को निहार रहे थे। महाराज ने कहा, 'एक कहानी सुनोगे?'

बच्चों में आनन्द की लहर फैल गई। श्रीहरि ने कुछ कहानियाँ सुनाई। फिर प्रतिदिन माला घुमाकर भगवान का नाम-स्मरण करने का, नित्य स्नान करने का, शुद्ध आहार-विहार रखने का नियम भी दे दिया।

'कहानी सुनोगे?' कितना जादू है इस प्रश्न में! बड़े-बूढ़े भी कहानी

के रस को नहीं टाल सकते, तो बच्चों को संस्कार देने का इससे अधिक उपयुक्त माध्यम और क्या होगा? सत्संग के नियमों की परम्परा श्रीहरि ने बचपन से ही लोगों के जीवन में प्रस्थापित करना आरम्भ कर दिया था! ऐसे संस्कारों की डगर ही आध्यात्मिकता के शिखरों तक पहुँचने का राजमार्ग बन जाती है! भगवान स्वामिनारायण को केवल संस्कार देना ही पर्याप्त नहीं था, वे तो आत्मा-परमात्मा के ज्ञान को लेकर पधारे थे। उसी ज्ञान की दृढ़ता करना - कराना उनके प्राकट्य का प्रमुख उद्देश्य था। और अहंकार तथा मनुष्य की क्षुद्र-जातिगत सोच मिटाने के लिए भी उन्होंने बचपन की सरलता का ही उपयोग किया था।

अगतराई में एक हरिजन बालक कभी-कभी महाराज के दर्शन के लिए आया करता था। एक दिन श्रीहरि ने उसे पूछा, 'कौन है तू?'

'मैं तो ढेड हूँ, महाराज!'

'नहीं, तू ढेड नहीं, आत्मा है! बोल, 'मैं आत्मा हूँ!'

'मैं आत्मा हूँ।' उसने यंत्रवत् कहा।

महाराज ने पुनः पूछा, 'तू कौन है?'

'महाराज, ढेड हूँ!'

महाराज ने कहा, 'अब सौ बार बोलते रहो, 'मैं आत्मा हूँ। आत्मा हूँ।' और वह बालक बोलता रहा। एक तृप्त दृष्टि से श्रीहरि उसके चेहरे पर करुणावर्षा करते रहे। आध्यात्मिकता की परम समझ को एक अबोध अनपढ़ और गँवार से बच्चे के हृदय में प्रस्थापित करने के आग्रह में श्रीहरि की अनन्त विशालता तथा दीर्घकालीन धैर्य का मार्मिक दर्शन प्राप्त होता है।

श्रीहरि के स्वरूप में बच्चों का विश्वास और प्रेम आखिर एक पर्वतप्राय निष्ठा में परिवर्तित होता जा रहा था, यह उनकी अनन्य सिद्धि के अलावा कुछ नहीं हो सकता!'

एक विरोधी ने तो भगवान स्वामिनारायण का भजन करनेवाले अपने ही पुत्र को मौत की नींद सुला दिया था, लेकिन उस बच्चे ने अन्तिम सांस तक श्रीहरि के नाम स्मरण को नहीं छोड़ा!

उन मासूम बच्चों को सत्य के लिए असत्य को ठुकराने की कीमत तो मालूम हो ही चुकी थी, परन्तु असत्य का सामना करने का साहस भी

उनमें उत्पन्न हो गया था।

'उत्सव' : विशिष्ट धर्मसम्मेलनों की परम्परा...

सैकड़ों समर्पित और धर्मनिष्ठ सन्तों को साथ लेकर श्रीहरि ने स्वयं अपने ऐश्वर्य से गुजरात को अध्यात्म की संजीवनी में रसलीन कर दिया था। जहाँ कुछ साल पहले सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में घुटन का अनुभव था, अब वहाँ उत्साह की लहर दौड़ने लगी थी।

विराट जनसमूह को सांस्कृतिक धारा की ओर अग्रसर करने का उन्होंने जो एक सशक्त माध्यम चुना था, वह था भारतीय उत्सवों की परम्परा।

ऐसा एक भी उत्सव नहीं था, जो उन्होंने धूमधाम से न मनाया हो! पूरे लोकसमूह के साथ वे अपने आपको आनन्द रस में सराबोर कर देते थे! वसन्तऋतु में रंगों की धूम मचाते, फूलदोल में या शरदोत्सव में हिंडोले की रचना करवाते या भक्तों-सन्तों के साथ रास-नृत्य रचाते! नवरात्रि के दिनों में सात्त्विक तप का समादर करते और अन्नकूटोत्सव में सारे गाँव को एक जुट बनाकर विविध सामग्री बनाने में लगा देते। हिंसामय यज्ञों के सामने उन्होंने जो अहिंसक एवं वैष्णवी रीति के अनुसार यज्ञों का सिलसिला चलाया, पूरी ब्राह्मण जाति में एक नवजागरण का मानो शंखनाद गूंजने लगा! उनके यज्ञोत्सवों में ही नहीं, हर उत्सव में एक आयोजन था, एक संयोजन था, सेवा थी, मन्त्रों तथा विधियों की सात्त्विकता थी। लोक-समूह का सहयोग था, ब्राह्मणों द्वारा समाज में फैलायी विकृतियों को कृतियों में परिवर्तन किया था, उसमें सनातन परम्परा के विशुद्ध स्वरूप का दर्शन था। साम्प्रदायिक परिभाषा में ऐसे उत्सव आज भी 'समैया' कहकर पहचाने जाते हैं।

'सेवाभावी सन्देश वाहकों द्वारा ऐसे उत्सवों का निमन्त्रण-पत्र गाँव-गाँव पहुँचाया जाता। ऐसे धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहस्त्रों लोग व्यक्तिगत रूप से, या संघ के स्वरूप में उत्सव-स्थल पर उमड़ पड़ते थे। दक्षिण गुजरात के धर्मपुर में रखे गए उत्सव में भी कच्छ, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र तथा सूरत या बुरहानपुर जैसे दूर-दूर के स्थलों से भी सत्संगी उत्साह

पूर्वक आते थे।'[85]

इन उत्सवों के आयोजन के पीछे श्रीहरि एक साथ अनेक उद्देश्यों को सिद्ध करते चले थे। उनका 'उत्सव' का विचार ही बड़ा मनोवैज्ञानिक था! उत्सव की कल्पना उनके मन में कोई 'मेले' जैसी नहीं थी।

वौठा (गुजरात) में हर साल एक बहुत बड़ा मेला लगता है। साबरमती नदी के तट पर लगते इस विशाल मेले में एकबार श्रीहरि स्वयं अपने भक्तों के साथ आ पहुँचे। क्या देखा उन्होंने ? :

'कहीं जुआ खेलते लोग दिखाई दिए, तो कहीं वैरागियों के तम्बुओं में स्त्रियों के साथ होती अश्लील चेष्टा भी दिखाई दी, कहीं भंगेड़ियों के बीभत्स नाचगान, तो कहीं शराबियों का जमघर लगा था। हाँ, कुछ भजन के सुर भी सुनाई दिए, परन्तु सात्त्विकता के बजाए वहाँ तामसिकता तथा राजसी विलासों की भरमार थी। श्रीहरि जब अपने तम्बू में पधारे तो उन्होंने सन्तों-भक्तों को कहा, 'देखा न यह मेला? कहीं भजन या भक्ति के चिह्न दिखाई देते हैं? सर्वत्र इन्द्रियों की विषयवृत्ति को बहकाने का ही माहौल खड़ा हो गया है। ऐसी विकृतियों के कारण लोग तीर्थों को भी पापमय बना देते हैं। जब कि हमने 'समैया' की जो परम्परा प्रारम्भ की है, वह तो भक्ति की साधना करने का विद्यालय है जहाँ भगवान और सन्त का प्रत्यक्ष सम्बंध रहता हैं और इन्द्रियों की वृत्ति कुण्ठित हो जाती है, अन्तःकरण भक्तिमय बनता है। बस, यही अन्तर है लोगों के मेले और हमारे 'उत्सव-समैया' में।'[86]

समैया में (उत्सव में) आते ही लोगों को आध्यात्मिक चेतना का स्पर्श होता था। उसे अपने ही समान विचारोंवाले सैकड़ों लोगों का सम्पर्क होता था! विविध प्रदेशों से आए हुए भक्तों के नियमों की दृढ़ता के विषय में, उनकी एकनिष्ठ भक्ति के विषय में तथा भगवान स्वामिनारायण द्वारा दिखाए हुए विविध चमत्कार तथा उनके द्वारा हुए जीवन परिवर्तनों के विषय में बहुत सी जानकारी मिलती। विविध सन्तों के व्याख्यानों तथा

---

85. भगवान स्वामिनारायणनुं समकालीन लोकजीवन-पृ. १३५ : द्वितीय आवृत्ति, लेखक : बी.जी. वाघेला। (गुजराती)

86. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/६४४ ले. ह. त्रि. दवे।

स्वयं भगवान स्वामिनारायण के आशीर्वचनों से आध्यात्मिक चेतना जागृत होती। सर्वत्र एकवाक्यता, एकसूत्रता तथा भावात्मक ऐक्य का अनूठा वातावरण बन जाता था।

उस समय की कुछ विकृत परम्पराएँ लोगों के रक्त में मिल चुकी थीं। परन्तु श्रीहरि ने एक-एक करके प्रत्येक विकृत परम्परा को छुड़वाकर उत्सवों को सत्य स्वरूप दिया, जो भारतीय सनातन परम्परा के अनुकूल थी।

ई. स. 1802 का वर्ष था। वसन्तोत्सव का दिन आया, श्रीहरि ने अभी-अभी धर्मधुरा धारण की थी। इस उत्सव के दिन जो अनाचार होता था उसका उनको पूरा ज्ञान था। उन्होंने उत्सव-सभा में ही कहा था, 'वसन्त तो परमात्मा की विभूति है। अत: परमात्मा के स्वरूप का आनन्द लेना ही इस उत्सव का उद्देश्य है। इस आनन्द के लिए तप तथा वैराग्य का साधन उत्तम है, किन्तु उन साधनों से जीवन को शुष्क बना देना हमारा उद्देश्य नहीं है। आज से हम धर्म अर्थात् सदाचार के साथ इस उत्सव को मनाना आरम्भ करेंगे। यदि धर्म रहेगा, तो भीतर भक्ति प्रकट होगी। परन्तु इन्द्रियों की विषयवृत्ति के पोषण के लिए ऐसे उत्सवों का आयोजन होता रहेगा, तो मोक्ष-मार्ग से भ्रष्ट होने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं बचेगा।'[87]

मांगरोल में जब उनकी निश्रा में प्रथम पुष्पदोलोत्सव तथा धूलेटी मनाई गई तभी उन्होंने तत्कालीन परम्परा पर कड़े प्रहार किए थे, 'होलिका के असुरभाव का तिरस्कार करते हुए लोग आज अश्लीलता के रास्ते पर उतर पड़े हैं। गाली-गलौज़ करना शिष्ट समाज के चिह्न नहीं हैं। ऐसी भाषा से जिह्वा ही नहीं, मन भी भ्रष्ट हो जाता है। अत: ऐसी विकृत परम्परा का त्याग करके सात्त्विक भाव से प्रह्लादजी के विजय का उत्सव मनाना, यही हमारी वास्तविक परम्परा है!'[88]

कुछ तथाकथित शाक्तपंथियों ने मातृशक्ति की उपासना में हिंसा का फंदा इतना कसा था कि आए दिन निर्दोष पशु मौत के घाट उतारे जाते थे।

---

87. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, १/४८१ ले. ह. त्रि. दवे।
88. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण : १/४८५. ह. त्रि. दवे।

ब्राह्मण भक्ति के नाम को कलंकित करते। नवरात्रि पर इस हिंसाचार की मानो बाढ़ आ जाती। कत्ल किए जाते पशुओं को श्रीहरि से देखा नहीं जाता था। उनकी आँखें डबडबा जातीं।

माणावदर के मुस्लिम राज्य में नवाब के कानों तक सुनाई देनेवाली पुकार उन्होंने उत्सवसभा में लगाई थी, 'भारतीय परम्परा में हर देवी को हमने मातृस्वरूप में देखा है। माँ कभी स्वप्न में भी अपनी सन्तानों का कत्ल चाहेगी? क्या निर्दोष पशु माँ की सन्तान नहीं हैं? तथाकथित हितों के पोषक कुछ ओझे माँ की मूर्ति को शराब तथा माँस का नैवेद्य लगाते हैं, निर्मल भक्ति परम्परा में यह कितना उचित है?'[89]

इन दिनों बढ़ते व्यभिचार के पोषक लोगों को उन्होंने रंगे हाथ पकड़ा था और भारी डाँट लगाकर कहा था : अरे! कापुरुषो! यदि इस पाप से नहीं छूटेंगे, तो न केवल अपने शरीर को नष्ट करोगे बल्कि पूरे समाज की सामाजिक व्यवस्था को चौपट कर डालोगे।'

उनकी वाणी जितनी ओजस्वी थी, उतनी ही फलदायी भी थी। कोई उनके आदेश का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता था।

समाज के दूषणों को मिटाने के लिए श्रीहरि ने जितने भी कड़े कदम उठाए, उनका प्रारम्भ ऐसी उत्सव सभाओं से ही हुआ था।

समाज की रूढ़िवादी परम्परा में भगवान स्वामिनारायण के इस प्रयोग द्वारा भक्तों की धर्मश्रद्धा सुदृढ़ होने लगी तथा जड़ समाज के आक्रमणों के समक्ष आन्तरिक शक्ति के साथ जूझने की शक्ति सम्भव हो सकी। उत्सवों द्वारा उन्होंने भक्तिमार्ग को परिपुष्ट तथा ज्ञानमार्ग को परिशुद्ध किया।

उत्सव में वातावरण रहता था आनन्द का, रास्ते में बीती हुई कठिनाइयों को भूलकर सब भगवान स्वामिनारायण की वाणी में रसलीन हो जाते थे। सत्संगियों के सुख-दुःख की जानकारी ली जाती, सभी के कष्टों का निवारण करने के लिए विचार-विमर्श किया जाता था। सम्प्रदाय के उत्कर्ष के लिए निर्णय लिए जाते थे। सन्तों के विचरण के स्थान निश्चित किए जाते थे और समाज-सुधार के साथ-साथ स्व-सुधार तक के

89. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण : १/५४६. ह. त्रि. दवे।

प्रश्नों पर श्रीहरि अन्त में अपने विचार सुनाते थे।[90]

दूध के बर्तन में डूबोकर बच्चियों को मौत की आगोश में सुला देने की घटनाएँ कभी-कभी सुनाई देती थीं। भगवान स्वामिनारायण ने ऐसी घटनाओं पर रोक लगाने के लिए उत्सवों के अवसर पर होते लोक सम्पर्क का सहारा लिया था। 'स्वामिनारायण' मन्त्र के प्रचार एवं प्रभाव का मूल स्रोत 'उत्सव' ही था। अस्पृश्यता निवारण के विचारों को लोया में स्त्रियों को टोककर श्रीहरि ने उत्सव के दिनों में ही प्रस्तुत किया था। स्त्री तथा पुरुषों की अलग व्यवस्था का श्रीगणेश उत्सव-सभा के द्वारा ही हुआ था, ऐसे सात्त्विक उत्सव संघभावना, साम्प्रदायिक गौरव के एहसास तथा सहस्त्रों सन्तों-हरिभक्तों के पवित्र जीवन से मिलती अद्‌भुत प्रेरणाओं के द्वारा सत्संग, समाज के रचनात्मक संगठन की नींव बने।

भगवान स्वामिनारायण ने उत्सव के एक अनन्य आध्यात्मिक पहलू को स्पष्ट करते हुए कहा था, 'भगवान की मूर्ति को निरन्तर देखनेवालों को भी भगवान ने जिस स्थान पर जो लीला की हो, उसका स्मरण रखना चाहिए। क्योंकि कदाचित् मृत्यु के समय भगवान की मूर्ति का विस्मरण हो गया, तो लीला की स्मृति के कारण सत्संगी, या ब्रह्मचारी या सन्तों की स्मृति हो जाती है, उनकी स्मृतियों के सम्बंध से भगवान की मूर्ति की स्मृति भी हो जाती है, जीव महान पद को प्राप्त करता है तथा उसका बहुत कल्याण होता है। वही कारण है, कि हम बड़े-बड़े विष्णुयाग करते हैं, तथा जन्माष्टमी, एकादशी आदिक व्रतों के प्रति वर्ष उत्सव तथा उनमें ब्रह्मचारी, साधु तथा सत्संगियों को एकत्र करते हैं। कोई पापी जीव को यदि मृत्यु के समय भी इन उत्सवों की स्मृति हो जाए, तो उसे भगवान के धाम की प्राप्ति हो जाती है!'[91]

आज भी इस सम्प्रदाय में संघ भावना तथा सुहृद् भावना के साथ एक सुनियोजित ढंग का प्रबंधन दिखता है। एक परिवार-सी भावना दिखती है। साधु तथा गृहस्थों में जो आत्मीय सम्बंधों का माहौल तथा धर्म

---

90. भगवान स्वामिनारायणनुं समकालीन लोकजीवन : द्वितीयावृत्ति. : (गुजराती) ले : बी.जी.वाघेला : पृ. १३७।

91. वच. ग. प्र. ३।

सम्बंधी नियमों में एवं भक्ति सम्बंधी रीतियों में जो एक-सूत्रता तथा एकवाक्यता दिखती है। आत्मा-परमात्मा के ज्ञान की अनुभव मूलक ऊँचाईयाँ सन्तों के व्याख्यानों में दिखती है, तथा विषय वृत्ति को खाक में मिलाने वाले वैराग्य के रंग दिखते हैं, तो उन सभी का श्रेय आज भी उन्हीं उत्सवों को जाता है।

एकान्तिक धर्म के प्रवर्तन में श्रीहरि ने आत्मीय सम्पर्क को, राष्ट्र के भविष्य के समान उगती नई पीढ़ी को, तथा धर्मसम्मेलनों को जिस सहजता से उत्कृष्ट माध्यम बना दिया, वह अपने आप में अनोखा हैं। उनको निष्कुलानन्द स्वामी ने इन शब्दों से उचित श्रद्धांजलि दी है, 'श्रीमद् एकान्तिक धर्म प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामी शिष्य निष्कुलानन्द मुनि विरचिते। प्रकरणम् समाप्तम्!'



सन्त-कवियों के भक्तिसंगीत के द्वारा आध्यात्मिक चेतना का जागरण

९

भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्धर

यह एक सनातन सत्य है कि सत्यनिष्ठ प्रवृत्तियों का विकास विरोध को जन्म देता ही है। धरती पर अवतरित सभी महापुरुषों के जीवन की यही कथाएँ रही हैं, जिनमें या तो वे तेजोद्वेष के भोग बने या फिर संघर्ष के चक्रों में पिसकर स्वयं को बलिदान कर दिया। हाँ, ये लोग ऐसे होते हैं कि विरोधों की लगातार बढ़ती बाढ़ में भी वे अपने मार्ग पर निश्चल एवं अडिग रहते हैं।

भगवान स्वामिनारायण ने भी अपने समय में उग्र विरोधों का सामना किया था। सैकड़ों सन्तों को अपने 'ध्येय' के लिए बलिदान देना पड़ा था। बाबा, वैरागियों, फ़कीरों तथा विविध सम्प्रदाय के स्थापित हितों आदि द्वारा विरोध की ऐसी आँधी चली थी कि बिना श्रीहरि की भगवत् प्रतिभा के समाज-हित की प्रवृत्ति की ओर भी देखना कठिनतम अग्निपरीक्षा हो जाती!

अहमदाबाद में सात सौ बाबा-संन्यासियों के गुरु लोह-लंगर ने सन्तों की इतनी पिटाई की थी कि स्वामी मुक्तानन्दजी आदि की आँखों से रक्त

की धारा बह निकली थी।

भगवान स्वामिनारायण के विरुद्ध पेशवा के सूबेदार विठ्ठलराव बालाजी ने अहमदाबाद में ऐसा षडयंत्र रचा, कि जिस आसन पर श्रीहरि को बैठना था, उसी के नीचे उबलते हुए तेल का कुण्ड बनाया गया। इसमें श्रीहरि को भूनकर मार देने का इरादा था।

आणंद में श्रीहरि, संघ के साथ पहुँचे ही थे कि विरोधियों ने ऐसा हल्ला मचा दिया कि उस अपमान ने श्रीहरि के साथ पधारे काठी भक्तों के रोम-रोम में प्रतिशोध की आग लगा दी। किन्तु विस्मय तो यह था कि धार्मिक, राजकीय तथा सामाजिक क्षेत्रों से प्राप्त इतनी उपेक्षा, इतना तिरस्कार तथा इतने कष्टों के बावजूद श्रीहरि और उनके सन्त स्मित और क्षमा के साथ लोक-कल्याण के कार्य में लगे रहते थे।

ईसाई विद्वान एम.सी.पारेख ने ठीक ही लिखा था कि उन दिनों एक स्थिर प्रशासन की ओर से एक समाज सुधारक को जितना भी सहयोग एवं सुविधा चाहिए, श्री राममोहन राय को सहज मिला था, जब कि भगवान स्वामिनारायण ने न केवल असुविधाओं के बीच बल्कि प्रबल विरोधों में भी काम किया। विरोधों में कोई उनकी चिन्ता करे या कष्टों में कोई उनकी रक्षा करे, ऐसी कोई राजकीय शक्ति उनके पास नहीं थी! कभी-कभी तो राजाओं तथा विविध धर्मसंस्थाओं के विरोधों का ही उनको सामना करना पड़ा था!'[92]

कैसी विडम्बना थी उन दिनों कि एक पूर्णतः प्रतिभा सम्पन्न, दिव्य

---

92. Ram Mohan Roy had all the advantages which a reformer could have from a stable and enlightened administration. In sharp contrast to this Swaminarayana worked in the midst of conditions which were wholly medieval. The Province of Gujrat which was his sphere of work had mearly three hundred states and principalities. which were about half the number of those in the entire country. There was besides, no suzerian power worth the name to hold there warrying and hapacious instincts in check,... He met with serious opposition from them and from different religious bodies.' - 'Shri Swaminarayan.' - M.C. Parekh.

व्यक्तित्व को भारत में ही संस्कृति की नींव को अविचल करने के लिए भारी से भारी संघर्ष का सामना करना पड़ रहा था। अन्ततोगत्वा वे तत्कालीन समाज को भारतीय परम्परा के मूल्यों के साथ एकरस करने के अभियान में सफल होते चले गये।

इतिहासविद् आर्नोल्ड टोयन्बी का कथन है, 'यह एक स्पष्ट सत्य है कि पाश्चात्य प्रारम्भवाली जीवन-प्रणाली का अन्त भारतीय परम्परा में ही समाना श्रेयस्कर होगा। अन्यथा पाश्चात्य प्रणाली पूरी मानव जाति को विनाश के कगार पर खड़ी कर देगी। मानव-इतिहास के इस भयानक मोड़ पर मानव-जाति को उबारने का एक मात्र उपाय है : आध्यात्मिक परम्परा!'

कौन है मुख्य रक्षक इस पवित्र सांस्कृतिक-आध्यात्मिक परम्परा का?

'नादो हि ब्रह्मणो रूपम्' शास्त्र कहता है, भक्ति संगीत से उठती प्रभु-महिमा का प्रणवनाद ही ब्रह्म का स्वरूप है।

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' ऋषि कहते हैं, शिष्ट-साहित्य ही हमारे देशवासियों का आधार है।'

ऋषि यह भी कहते हैं, *'साक्षात् कृत धर्माण: ऋषयो बभूवु:'* ऋषियों ने जिनका शास्त्रार्थ किया था, ऐसे शास्त्र ही संस्कृति का आधार स्तम्भ हैं।

'नमस्ते अस्त्वश्मने।'[93] वेद तथा तैत्तरीय संहिता कहती है : पत्थरों की मूर्तियों में विराजमान आपको हमारा नमस्कार! 'यह देवों का मन्दिर है, इन मन्दिरों में देवताओं का निवास है!'

संगीत, साहित्य, शास्त्र तथा देवमन्दिरों की चार बुनियाद पर खड़ी हमारी संस्कृति की परम्परा को श्रीहरि ने बड़े सहज ढ़ंग से दृढ बनाया था।

संगीत

'भगवान स्वामिनरायण संगीतज्ञ सन्तों का बहुत सम्मान करते थे। शक्कर का शर्बत पिलाते और गाने के बाद कुछ उपहार भी देते रहते।'[94]

संगीत की सूझ-समझवालों को विशेष शास्त्रीय अभ्यास के लिए

93. अथर्ववेद : १.१३-१।
94. ह. च. सा. ४.४८।

उज्जैन तक प्रशिक्षण लेने भेजना, उनके अपार संगीत प्रेम का द्योतक है। उन्होंने स्वामी प्रेमानन्दजी को इसी कारण उज्जैन भेजा था।

एक दिन प्रेमानन्द स्वामी ने एक चारण से माताजी का 'गरबा'[95] सुना, तो उसी राग के अनुसार शीघ्रातिशीघ्र श्रीहरि की मूर्ति के आठ पदों का सृजन कर दिया। उन पदों को सुनकर श्रीहरि स्वयं बोल उठे थे, 'धन्य है प्रेमानन्द, इन पदों को सुनकर मेरी ऐसी भावना होती है कि आपको जिस प्रकार भगवान की मूर्ति का चिन्तन है, तो उठकर हम आपको दण्डवत् प्रणाम कर लें!'

स्वामी प्रेमानन्दजी के रूहानी संगीत को सुनने के बाद जूनागढ़ के नवाब ने ग्वालियर घराने के गायकों को मना करते हुए कह दिया था, 'संगीत सुनना हो तो स्वामिनारायणीय फ़कीर प्रेमानन्दजी के पास जाओ! क्या कण्ठ पाया है उन्होंने और कैसी रूहानी कशिश है उनके पदों में! जब से मैंने उनके भक्तिसंगीत को सुना, तब से मुझे और किसी को सुनने की ख्वाहिश नहीं रही है।'

जब ग्वालियर के गवैये स्वामी प्रेमानन्दजी को सुनने के लिए गढ़पुर पहुँचे और स्वामी ने भी भगवान स्वामिनारायण के आदेश से भरी दुपहरी में प्रात:काल के 'भैरव राग' का गायन किया, तो कुछ ही पलों के आलाप में पूरा वातावरण बदलने लगा। गवैये सुर-समाधि में खो गए थे। वातावरण में भोर की ठंडक छाने लगी। सूर्य बादलों के पीछे छिप गया। पक्षी, प्रात:काल के भ्रम में कलरव मचाने लगे। जब स्वामी ने आँखें मूँदकर, प्रणाम करते हुए अन्तिम तान समाप्त की तो भी हवा में संगीत के सुरों की झंकार अभी तक तैर रही थी। कुछ पलों के बाद जब सभी होश में आए तो एक साथ घुटनों के बल उठकर सभी गवैये हाथ फैलाकर बोल उठे, 'सुभान अल्लाह! सुभान अल्लाह!'

स्वामी देवानन्दजी ने भी धर्मपुर राज्य के राजमहल में दरबारी गवैयों का अहंकार चकनाचूर कर दिया था। बात थी केवल स्वामी के गायन के साथ दरबारी तबला के वादकों के तबला बजाने की! लेकिन स्वामी ने

95. माँ दुर्गा की वन्दना के लिए गाया जाता भक्तिपद, जिसके साथ गुजराती लोकनृत्य 'गरबा' किया जाता है।

'कानरा' के पद इतनी द्रुत गति से गाए कि दरबारी तबला-वादकों के हाथ नहीं चल पाये!

स्वामी ब्रह्मानन्दजी का बुलन्द स्वर गूंज उठता था, तब सहस्त्रों की भीड़ बिना हिले उसी सुर-गंगा में बहती चली जाती थी। ग्वालियर से लखनऊ तक इन सन्तों के गायन-वादन की प्रसिद्धि थी।

कलानगरी उज्जैन - अवन्ती में महाराजा भोज के समय का एक बड़ा-सा मृदंग था। कहा जाता था कि भगवान गणेश के आशीर्वाद से वह वंशानुगत प्राप्त हुआ था। वह इतना बड़ा था कि दोनों हाथ फैलाने पर भी व्यक्ति के छोर तक नहीं पहुँच पाते थे। सैकड़ों साल पूर्व गुजरात के राजा भीमदेव सोलंकी की रानी चौलादेवी ने इसे बजाने की चुनौती उठा ली थी और शीघ्रगति के नृत्य के साथ उस मृदंग को बजाकर अपना कला-कौशल दिखाया था।

उसके बाद वह सैकड़ों वर्ष तक अनछुआ ही रहा, जो कि भगवान स्वामिनारायण की आज्ञा से स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने भरी सभा में बड़े ही सहज ढंग से बजा दिया था! चौलादेवी ने नृत्य का सहारा लिया था, तो स्वामी ने दो काष्ट-स्तंभ को जोड़ते हुए तीसरे काष्ट को द्वार की भाँति बंधवाया। फिर मृंदग को बीच में तिरछा रखकर दाहिने भाग को घोडों के वाल से तथा बाएँ भाग को डोरी से बाँध दिया। फिर भूमि से थोड़ा उपर रखते हुए गायकों के गायन के अनुसार बजा दिया, चारों ओर से पुकार उठने लगी, 'धन्य है ब्रह्मानन्द! धन्य है!'

स्वामी आधारानन्दजी ने तत्कालीन संगीतज्ञ सन्तों का स्मरण इस प्रकार किया है : 'मुक्तमुनि, ब्रह्मानन्द स्वामी तथा प्रेमानन्द स्वामी तबला बजाने लगे। ज्ञानानन्दजी सितार बजाते थे, ब्रह्मानन्द स्वामी कभी-कभी मोरचंगा भी बजाते। देवानन्दजी तम्बूर के सुर छेड़ते, तो निर्विकारानन्द तथा हर्यानन्द ताल बजाते।'

'मुक्तानन्द स्वामी जब भी गाते, तो मुखप्रभा लाल-गुलाबी हो जाती और देवानन्दजी के गान के समय राग मानो मूर्तिमान प्रकट हो जाता। ब्रह्ममुनि गाते, तब मेघ की ओर देखकर मोर हुलास लेने लगता है, उसी प्रकार महाराज आनन्दविभोर हो जाते...। प्रेमानन्द स्वामी के गाने के साथ

भगवान स्वामिनारायण भी चुटकी बजाकर साथ ही गाने लगते और निष्कुलानन्द स्वामी जब गाते, तब संसार की आसक्तियाँ छूटने लगतीं! लोगों का मन वनवास की ओर चल निकलने के लिए तड़प उठता।'

वे जो भी गाते थे वह अनुभव की वाणी थी, स्वयं स्फुरित रचनाएँ थी। वे कवि भी थे, गायक और वादक भी! कितना वैविध्य है उनके भावों की अभिव्यक्ति में! काव्य के प्रकारों में और राग की बहारों में! दोहों से लेकर प्रबन्ध काव्यों तक उनकी पहुँच थी, तो सोहिनी, परज, मल्हार, भैरव, भैरवी, विभास, कैरव, रामकली, कल्याण, सारंग, बिलावल, केदार, धनाश्री, कॉफी आदि रागों की उनके अमृत घुले कण्ठों में मिलावट थी।

नीनु मजुमदार की यह टिप्पणी सरीक है, 'भारत की पुरातन संगीत विद्या से लुप्त हो चुका सृजन तत्त्व स्वामी सहजानन्दजी ने अपने सन्तों के माध्यम से सजीव किया। संगीत कोई उस्तादों के तान-पलटों का अनुकरण नहीं है, न कोई मनोरंजन की सस्ती विद्या! वह तो है, हर व्यक्ति के भीतर सोई हुई सनातन सृजक-शक्ति के विकास की परम्परा जो प्रजा की चेतना को उन्नति के पथ पर उन्मुख करने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है! भगवान स्वामिनारायण ने संगीत विद्या को इसी प्रकार की ऊँचाई प्रदान की थी!'[96]

प्रेमानन्द स्वामी ने भगवान स्वामिनारायण की अन्तर्धान तिथि पर गाए 10 पदों से पूरे सत्संग समाज की आँखों से विरह की अश्रुगंगा बहा दी थी! उनका श्रीजी के प्रति इतना प्रगाढ़ और निष्काम प्रेम था कि उस प्रेम के कारण ही उन्होंने अपना 'प्रेमसखी' नाम गोपीभाव से सार्थक किया था!'[97]

मूर्धन्य साहित्यकार कन्हैयालाल मुन्शी ने कहा था कि गुजरात में नरसिंह तथा मीरां के बाद यदि शुद्ध भक्ति का स्पर्श कहीं भी दिखता है, तो वह प्रेमसखी के पदों में दिखता है!

यह तो होना ही था, क्योंकि ये केवल कवि ही नहीं थे, न वे केवल गायक कलाकार! वे कवियश-प्रार्थी नहीं, अपितु प्रभुपद-प्रार्थी 'सन्त विभूति' थे!

---

96. भगवान स्वामिनारायण : संगीत कला के पोषक (गुजराती) पृ. ११/१२।
97. भगवान स्वामिनारायण : संगीत कला के पोषक (गुजराती) पृ. २४।

सम्प्रदाय में खिली संगीत की फुलवारी द्वारा संस्कृति के एक पंख को श्रीजी ने पूरी तरह सशक्त कर दिया था। जिन के बल पर हम आज भी भक्ति के मानस सरोवर की सैर करने के लिए मन चाहे तब निकल सकते हैं। प्रेमानन्द स्वामी द्वारा श्रीहरि को दिया हुआ एक नाम था, 'ललित कलाओं की खान' भगवान स्वामिनारायण ने यह नाम सहज ही सार्थक किया था।

शास्त्र तथा साहित्य निर्माण

कला का दूसरा पक्ष है साहित्य!

जो युग गुजराती साहित्य में 'निर्माल्य साहित्य का युग' कहा गया था, उसी युग के अन्तिम वर्षों में भगवान स्वामिनारायण का गुजरात की धरती पर आगमन हुआ। न जाने कैसे चेतना का वह आन्दोलन पुनः लौटा और एक के बाद एक विद्वान सन्तों की कलम से युगीन आवश्यकताओं को परखते हुए क्रान्तिदर्शी साहित्य का सम्पुट प्रजा के हाथ में समर्पित होता चला!

अनाचार की लीला को समेटने के लिए प्रेमानन्द स्वामी से श्रीहरि ने 'वर्तमान विवेक' का सृजन करवाया, स्त्रियों की दुर्दशा देखकर उनके लिए मुक्तानन्दजी से 'सतीगीता' की रचना करवाई, विवाहोत्सव के बीभत्स गीत सुने तो श्रीजी ने सन्तों को 'रुक्मिणी विवाह' और 'तुलसी विवाह' के गीत लिखने का आदेश दिया, विविध पर्वोत्सवों के विविध कीर्तनों (भजनों) के साथ-साथ सन्तों ने अपनी लेखनी को मुक्त विस्तार दे दिया। उन्होंने ब्रज में लिखा, हिन्दी में लिखा, गुजराती में तो लिखा ही, किन्तु संस्कृत साहित्य से भी साम्प्रदायिक साहित्य की निधि को अधिकतम समृद्ध किया।

जेतलपुर में एक धर्मसभा में भगवान स्वामिनारायण ने कुछ सन्तों से विचरण के बहुत कडुए-मीठे अनुभव सुने। फिर सार इतना निकाला कि स्वामिनाराणीय सम्प्रदाय के सुधारवादी दृष्टिकोण को देखते हुए परम्परावादी रूढ़िवादियों ने इस सम्प्रदाय को ही 'अवैदिक' घोषित कर दिया।

हिन्दुत्व के प्रत्येक सिद्धान्तों को उसकी वास्तविकता तक ले जानेवाले श्रीहरि से इस आक्षेप का उत्तर देना तभी सम्भव था, जब सन्तों

के साहित्य को संस्कृत का शास्त्रीय स्पर्श मिले। उन्होंने उसी सभा में निर्देश दिया, 'हमारा सम्प्रदाय पूर्णत: वैदिक है, हम सनातनी हिन्दू हैं, जब कि कई पण्डित अज्ञानतावश हमें अवैदिक घोषित कर रहे हैं! आप सब सन्तों को मेरा आदेश है, कि परिश्रम और रुचि से संस्कृत की पढ़ाई करें, फिर पण्डितों की मान्यता को शास्त्रार्थ करते हुए बदलने का सन्निष्ठ प्रयत्न करें। हमें आप सभी की विद्वत्ता के द्वारा ब्रह्म-परब्रह्म के दिव्य स्वरूपों के ज्ञान का प्रचार एवं प्रसार करना है तथा भागवत धर्म की स्थापना करनी है। उपासना की यह कल्याण-परम्परा सदा-सर्वदा अग्रसर होती रहे, इसके लिए विभिन्न भाषाओं का तथा विविध शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य है। आप साधुता से तो सम्पन्न हैं ही, अब आपका शास्त्रज्ञान सोने पे सुहागा का काम करेगा और उसी से हमारे सम्प्रदाय की ज्ञान-परम्परा का उचित रूप से विकास सम्भव होगा!'[98]

सन्तों ने श्रीहरि का यह आदेश सर-आँखों पर उठा लिया, और मानो शिष्ट साहित्य का ही नहीं, कल्याणकारी साहित्य का भी एक महाप्रवाह साहित्य के क्षेत्र को परिप्लावित करता हुआ उतर पड़ा...। सन्तों ने 22 संस्कृत ग्रन्थ, और 90 प्राकृत ग्रन्थों की रचना करके सम्प्रदाय की महानतम सेवा की है। इन ग्रन्थों में गोपालानन्द स्वामी ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद् भगवद्गीता - प्रस्थानत्रयी पर भाष्य रचकर सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान सम्बंधी समझ को स्पष्ट किया है, तो स्वामी नित्यानन्दजी ने श्रीहरिदिग्विजय ग्रन्थ के साथ अन्य चार संस्कृत तथा 11 प्राकृत ग्रन्थों की रचना की।

स्वामी शुकानन्दजी सात संस्कृत और दस प्राकृत ग्रन्थों की रचना करके अभूतपूर्व योगदान देते रहे, तो स्वामी मुक्तानन्दजी अन्तिम साँस तक साहित्य-सृजन की सेवा करते रहे। उन्होंने भी सात संस्कृत तथा 23 प्राकृत ग्रन्थों की रचना से पूरे जीवन को सम्प्रदाय की साहित्य सेवा में समर्पित कर दिया। शतानन्द स्वामी का 'चरित्रग्रन्थ' - *'सत्संगिजीवनम्'* 17,727 श्लोकों से सम्पन्न रहा है, तो *'हरिवाक्यसुधासिन्धु:'* में भगवान स्वामिनारायण की वाणी का विद्वद्भोग्य संयोजन 11,000 श्लोकों में किया

98. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/३२९ ले. ह. त्रि. दवे।

गया है!

प्राकृत ग्रन्थों की रचना में शीर्षस्थ नाम है स्वामी निष्कुलानन्दजी का! जिन्होंने 23 ग्रन्थों के साथ 2,500 कीर्तन - भक्तिपदों से सम्प्रदाय के साहित्य को समृद्ध किया है। स्वामी आधारानन्दजी ने हिन्दी में चौपाई तथा दोहों के प्रयोग से भगवान स्वामिनारायण के चरित्र के महान ग्रन्थ की रचना की है, जो कि लगभग एक लाख पंक्तियों को अपने आप में समेटता है!

पन्द्रह ग्रन्थों के साथ 5,000 पदों के रचनाकार स्वामी ब्रह्मानन्दजी का आज भी चर्चरी आदि छन्दों में कोई सानी नहीं मिलता है।

स्वामी देवानन्दजी, दयानन्दजी, भूमानन्दजी, मंजुकेशानन्दजी, पूर्णानन्दजी आदि अनेक सन्तों का योगदान देखते हुए तथा उनके रचे हुए साहित्य की विपुलता को देखते हुए हम मुग्ध तो होते ही हैं, साथ ही उनकी विविधता तथा गुणवत्ता भी हमें उन उच्च कोटि के सृजनकारों के प्रति नतमस्तक करती है।

कविवर न्हानालाल ने कहा था, 'इस युग के किसी भी नव-सम्प्रदाय में आज तक जन्मी न हो, उस स्तर की तथा उस परिमाण में स्वामिनारायण सम्प्रदाय की कविता हैं।'

'दयाराम की तड़पन, उत्साह और वेग, नरसिंह महेता-सी भावों की बाढ़, मीरा का लाड-दुलार से परिपूर्ण लावण्य, भोजा भक्त सी स्पष्ट वक्तृता, अखा भक्त सा ज्ञान, धीरा भक्त सी काफी, रत्ना भगत सा विरह और राजे सी तड़पन - कविता और साहित्य के हर रस-प्रकारों से स्वामिनारायणीय कविता-भंडार समृद्ध है!'[99]

इस नूतन युगनिर्माण का शंखनाद करनेवाले साहित्य में राग है, रस है, लय है, ताल है, विचारों की बुलन्दी है, संगीत की मस्ती है, अनुभव की गहराई है और भावों का इन्द्र धनुष है!

सन्तत्व की अनुभवमूलक ऊँचाईयों से गिरता यह साहित्य-प्रपात आज भी पूरे समाज की विकृतियों को निर्मल बनाने का सामर्थ्य रखता है! क्योंकि यह सृजन है, भक्त-हृदय की धर्मनिष्ठा और वैराग्यनिष्ठा से

---

99. 'शिक्षापत्री समश्लोकी' - प्रस्तावना : ले. कविवर न्हानालाल.

परिपूर्ण!

उनके पास कहाँ थी साहित्य-सर्जन की सुविधाएँ? असिधारा के समान व्रतों का पालन, गाँव-गाँव सत्संग-प्रचार के लिए होता विचरण, विचरण में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और बाबा-संन्यासी-वैरागियों का यातनामय आतंक...। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी 'आकर्षक साहित्य' क़ी रचना हमें यह सूचित करती है, कि उनके सृजन का प्रेरणाबिन्दु कोई संसारी रस-संवेदना नहीं थी, किन्तु उनका प्रेरणाबल था, केवल परमात्मा भगवान स्वामिनारायण का मुद्रा-आकर्षण तथा उनकी भक्ति का प्रेम-मार्ग!

चार-चार दिनों के निर्जल उपवास के बाद मिली भिक्षा में भूमानन्दजी ने मुट्ठीभर होले[100] पाए और झोली में पड़े इस 'भोजन' को देखकर उनके भीतर से कृतज्ञता की फुहार उमड़ पड़ी - इन शब्दों में :

'जमो थाल जीवन जाऊँ वारी,
धोऊँ कर-चरण करो त्यारी!'

हे प्रभु! बलिहारी हूँ आपके चरणों पर! आपके हस्तकमल तथा चरण-कमलों का प्रक्षालन कर दूँ! आप शीघ्र उठिए और भोजन के लिए पधारिए।

आज हर घर में स्वामिनारायणीय सत्संगी प्रभु को भक्त-हृदय की यही पुकार लगाकर अपने घर-मन्दिर में नैवेद्य लगाता है!

न तो इन सन्तों के काव्य-कीर्तनों में कोरी कल्पना की तरंगें हैं, न शब्दों का कोई कौतूहल! यहाँ भीतर से भक्ति-भाव की धाराएँ बहती हैं। अन्त:करण का दीवानापन दिखाई देता है।

देखिए षट्रस-त्याग के कठोर वर्तमान से रतौंधी के रोग के शिकार हुए स्वामी ब्रह्मानन्दजी का 'ब्रह्म-आनन्द!' वे ऐसी स्थिति में लिखते हैं :

'राज, मारे दिन दिन दिवाली रे,
व्हाला, मळतां तमने वनमाली रे!'

'आप मिले हैं, तो हे महाराज, हमारा दिन-प्रतिदिन दीपावली-त्यौहार ही है!'

गाँव की गली-गली में उपेक्षा के मारे घूमते हुए स्वामी

100. ज्वार की फलियों से निकले भूने हुए दाने।

निष्कुलानन्दजी का आनन्द देखिए :

'भाग्य जाग्यां रे आज जाणवा,
थया कोटि कल्याण!'

'हे परम कृपालु भगवान स्वामिनारायण! आपकी प्राप्ति ही हमारे लिए कोटि-कोटि कल्याण की प्राप्ति के बराबर है! आप के मिलते ही हमारे सद्भाग्य का सूर्य उदय हो चुका है!'

इन सन्तकवियों का नाता न केवल साहित्य से जुड़ा था, वे जीते थे अपने इष्टदेव की आज्ञा के साथ कदम मिलाकर! 'ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, मुक्तानन्द, निष्कुलानन्द जैसे उग्र तपस्वी संन्यासियों पर अनीति के आरोप की ऊँगली भर उठानेवाला आज तक तो कोई पैदा हुआ जाना नहीं!' - न्हानालाल अपनी विलक्षण शैली में परमहंसों के चरित्र का गौरवगान करते हैं!

इन सन्तों की रचनाओं को आज तो विविध विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी शामिल किया गया है।

गोपालानन्द स्वामी की प्रस्थानत्रयी टीका के समान ग्रन्थों को मैसूर के शोध-संस्थान-सी संस्थाओं के विशिष्टाद्वैत कोश में सम्माननीय स्थान दिया गया है।

आज तक कई विद्यार्थियों ने विविध सन्तों के कुछ अथवा समग्र ग्रन्थों के अध्ययन से शोधनिबन्ध लिखकर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है।

विदेशों के विद्वानों का ध्यान भी बीते बीस-पच्चीस वर्षों से स्वामिनारायणीय सन्तों की साहित्यक कृतियों की ओर आकृष्ट हुआ है। जिस में 'सतीगीता' ग्रन्थ को लेकर फ्रैन्च विदुषी फ्राँस्वाँ मेंलिझाँ ने डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है।

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जब स्वामी ब्रह्मानन्दजी रचित रेणकी छन्द का गान पद्मश्री कवि दुला काग से सुना था, तो वे झूमकर बोल उठे थे, 'वाह ब्रह्मानन्द वाह! क्या सुर! क्या लय! और शब्दों की क्या चमत्कृति पाई है!'

कवि काग कहा करते थे कि 'डेढ़ सौ साल बीत गए, लेकिन स्वामी ब्रह्मानन्दजी के रेणकी छन्द के सामने वाले पल्ले पर उन्हीं के समकक्ष

दूसरा छन्द लिखनेवाला आज तक पैदा नहीं हुआ है!'

'समकालीन साहित्य के स्तर को दृष्टि में रखते हुए हम कह सकते हैं कि इन कवियों की कला वास्तव में उच्च कोटि की थी।'[101]

सन्तों के इन सृजनों में विद्वत्ता है, सरलता है, शालीनता है, भद्रता है, प्रेरणात्मकता है एवं आध्यात्मिक चिन्तनशीलता भी है!

सन्तत्व की अनुभवमूलक ऊँचाईयों से गिरते इस विराट् साहित्य-प्रपात में आज भी वही सामर्थ्य है, कि जिससे पूरे समाज की विकृतियाँ धुल जाएँ, और एक निर्मल जीवनशैली को पनपने का अवसर मिले। संस्कृति की यही महान सेवा श्रीहरि ने अपने सन्तों के माध्यम से करवाई।

मन्दिर-निर्माण

जिस चुप्पी से श्रीहरि ने लोज गाँव में सन् 1802 में गुजरात की धरती को अपना कार्य-क्षेत्र बनाने का निर्णय ले लिया था, उसी खामोशी से उन्होंने पंचाला नामक छोटे-से गाँव में सन् 1821 में अपनी जीवन-लीला को समेटने का निश्चय कर लिया था।

मुक्तानन्द स्वामी आदि को रोते हुए देखकर महाराज ने पूछा था, 'क्यों रोते हैं आप सब? जीना-मरना तो इस नाशवान संसार का नियम ही है!'

'बात यह नहीं है महाराज!' मुक्तानन्दजी ने गद्‌गदकंठ से कहा था : 'इन बीस वर्षों में आपने कितना भगीरथी कार्य किया है! अधर्म सर्ग का विनाश करके आपने एकान्तिक धर्म की स्थापना की है, स्त्री-धन के त्यागी सैकड़ों समर्पित साधु बनाए हैं, यदि आप उदास होकर यूँ ही चले जाएँगे, तो संसार यह सब बहुत कम समय में भूल जाएगा और आपकी दीर्घकालीन कल्याण-योजना का क्या होगा प्रभु! क्या आपने नहीं कहा था : 'मुझ जैसा कोई भगवान नहीं है।' तो उसकी प्रतीति आनेवाली पीढ़ियों को कैसे होगी? आपके जन्म की तथा उपासना शुद्धि की कोई भी निशानी दिए बिना चले जाना क्या उचित रहेगा?'

आँसू से भरी इस प्रार्थना को श्रीहरि बड़े गौर से सुन रहे थे, 'तो अब आप ही बताइए हमें, संस्कार, संस्कृति और एकांतिक धर्म के प्रसार

101. थोडांक रसदर्शनों (गुजराती) : क. मा. मुन्शी. पृ. २३२।

हेतु अब कौन-सा कार्य करना शेष है?' महाराज ने धीमे से पूछा।

मुक्तानन्दजी ने श्रीहरि की प्रेरणा से तीन संकल्पों का प्रस्ताव रख दिया, 'प्रभु, देवमन्दिरों का निर्माण करवाया जाए...। दूसरा, शास्त्र-सृजन को प्रोत्साहन दिया जाए तथा भावी पीढ़ी को ब्रह्मपथ पर चलानेवाली एक शाश्वत परम्परा की स्थापना की जाए!'[102]

श्रीहरि ने यह सुनते ही स्वस्थता ग्रहण कर ली। एकान्तिक धर्म, उपासना शुद्धि एवं भावी पीढ़ी को ध्यान में रखते हुए उन्होंने समर्पण, श्रम-साधना तथा सत्संग-सम्बंधी प्रवृत्तियों का ऐसा दौर चलाया कि पूरा सत्संग-समाज मन्दिरों के निर्माण के साथ ही एक जुट होता गया। भक्तिमार्ग में नई चेतना की लहर उठने लगी और कला तथा स्थापत्य का विस्तार बढ़ता चला।

बिना देवमन्दिरों के भारतवर्ष की कल्पना ही भयावह है। साहित्य, संगीत, शास्त्र और मन्दिर ही हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के वे मानदण्ड है, जहाँ से हमारे राष्ट्रीय चरित्र की धाराएँ प्रवाहित होती हैं!

गांधीजी कहते थे, 'भक्तों के मन से मन्दिर एवं मूर्तियाँ कोई पाषाण का प्रकल्प नहीं है, उनके मन से तो ये चैतन्य तत्त्व हैं! मन्दिरों को तोड़ना हमारे धर्म का ही विनाश है! क्योंकि मन्दिर है हमारी धार्मिक संस्कृति का संग्रह स्थान। लाखों-करोड़ों हिन्दू इन मन्दिरों से दुःख और तनाव की स्थिति में सान्त्वना तथा शान्ति पाते हैं, उन्हें भूमिसात् करने के बाद देखना कि कितना भयानक परिणाम हमें प्राप्त होता है!'

भगवान स्वामिनारायण द्वारा रचित प्रत्येक मन्दिर मानवजाति के लिए दिया गया शाश्वत उपहार है। कला और स्थापत्य की परम्परा, भक्ति तथा उत्सवों का पवित्र वातावरण, सन्तों के द्वारा प्रतिदिन बरसती कथा-कीर्तनों की झडियाँ तथा सैकड़ों प्रकार की सामाजिक प्रवृत्तियाँ तो इन मन्दिरों का 'उपउत्पाद' ही रहीं हैं! मन्दिरों का मुख्य उद्देश्य मात्र समाज कल्याण की सेवा-प्रवृत्ति या कला-स्थापत्य की अभिवृद्धि करने का ही नहीं था।

भगवान स्वामिनारायण अपने उपदेश ग्रन्थ 'वचनामृत' में इसका

102. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, ३/५३६ ले. ह. त्रि. दवे।

उद्देश्य बताते हुए कहते हैं कि हमने सोच-विचार के भगवान की उपासना की अभिवृद्धि करने के उद्देश्य से, त्याग के पक्ष को मन्द करते हुए भी भगवान के मन्दिर बनवाए हैं। यदि त्याग कम रहेगा, किन्तु मन्दिरों के द्वारा भगवान की उपासना रहेगी तो सहस्त्रों-लाखों लोगों का कल्याण होगा। जो केवल दयाभाव रखते हुए बैठा रहता है, तो न वह भगवान की भक्ति कर पाता है, न उपासना की रीति को निभा सकता है। तब समय की रफ़्तार में अन्ध-परम्परा चलने का भी भय बढ़ जाता है अतः हमने मन्दिर बनवाए, ताकि भगवान की उपासना की रीति निरन्तर चलती रहे।[103]

भगवान स्वामिनारायण ने केवल आठ साल के कम समय में (ई.स. 1822 से ई.स. 1830) छः विशाल मन्दिरों का निर्माण करके अपनी भगवत्ता का परिचय दे दिया था।

मन्दिर भी भारतीय स्थापत्य के अनुसार शास्त्रीय पद्धति से बनवाए थे। जिनमें तीन शिखर, विशाल गुम्बद, छोटी-छोटी देहरी के आकार की घुमटियाँ, भक्त सहित भगवान की युगल मूर्तियों का स्थापन, गर्भगृह की पर्याप्त जगह और प्रतिष्ठित मूर्तियों के साथ छोटी-सी अचल मूर्तियों की भी स्थापना, पुजारियों की स्नान-शौच आदि विधि, उत्सवों के दिन भगवान के दिव्य स्वरूपों का नवीनतापूर्ण शृंगार, पांच समय का आरतीगान, स्त्री-पुरुष मर्यादा का दृढ़ अनुसरण, कथा-वार्ता तथा उत्सव मनाने के लिए विशाल सभागृह, सन्त निवास तथा ठाकुरजी के निवासरूप काष्ठ, रजत या स्वर्ण के कलात्मक सिंहासन से बढ़ती जाती शोभा...। स्वामिनारायणीय मन्दिरों की विशेषता है, प्रत्येक मन्दिर जीवंत भक्ति परम्परा का द्योतक हैं।

अहमदाबाद, भुज, वरताल, धोलेरा, जूनागढ़ और गढ़डा - इन छः नगरों में उन्होंने सन्तों के श्रम से, हरिभक्तों के समर्पण से, बिना राज्य की सहायता लिए अनुपम तीर्थधाम खड़े कर दिए थे। प्रत्येक मन्दिर के निर्माण के साथ एक विरोध-गाथा भी जुड़ी है, तो साथ-साथ श्रीहरि के सामर्थ्य की विजयगाथा भी प्रसिद्ध हुई है।

एक दिन की बात है। श्रीहरि के सान्निध्य में सारंगपुर में गुरु

103. वच. ग. म. २७।

रामानन्द स्वामी का जन्मोत्सव मनाया गया था। तब विशाल धर्मसभा में महाराज ने कर्मयोग का रहस्य इस प्रकार समझाया, 'धर्म दो प्रकार के होते हैं, निवृत्ति धर्म और प्रवृत्ति धर्म। दोनों भगवान सम्बंधी होंगे, तो दोनों भागवत धर्म के अंगभूत ही है। भगवान सम्बंधी कार्यों में मन्दिरों का निर्माण करवाना आदि जो प्रवृत्तिमार्ग है, वही कर्मयोग का रहस्य है!'[104]

श्रीहरि स्वयं भी ऐसे कर्मयोग में लग जाते। वरताल में मन्दिर-निर्माण के समय एक राजगीर ने शिखर का काम करते हुए हाँक लगाई, 'अरे, कोई चूना दे दो!' महाराज उस समय कुर्सी में बैठकर निरीक्षण कर रहे थे लेकिन यह हाँक सुनते ही तुरन्त खड़े हो गए और शिखर तक चढ़कर चूना पहुँचा दिया! स्वामी नित्यानन्दजी यह देखते ही दौड़ पड़े, आकर कहा : 'महाराज, हम यहीं थे, आपको ऐसा काम शोभा नहीं देता! किसी को आज्ञा कर दी होती!'

महाराज ने स्मित करते हुए कहा, 'हमें सेवा-भक्ति बहुत प्रिय लगती है।'

एक दिन ईंटों के ढेर से महाराज मेमारों को ईंट पहुँचाने लग गए थे, तो गंगा माँ ने आकर उनको रोक दिया था तथा स्त्रियों के मण्डल को ईंटों की सेवा में लगा दिया था! यदि कोई शारीरिक श्रम से परहेज करे, सेवा के समय ही ध्यान-मानसी या माला फेरने के लिए बैठ जाए, तब तो उसे महाराज की भारी डाँट पड़ती। एक दिन एक पार्षद कुछ आलस्यवश पद्मासन लगाकर माला घुमाने बैठ गया। साधु सब जी-तोड़ सेवा में लगे थे, महाराज को यह समाचार मिला तो उसे डाँटते हुए कहा, 'महापुरुष! लकड़े क्या खींचते हो? चलो, मन्दिर के पत्थर चढ़ाओ, पत्थर!'

गढ़पुर के मन्दिर-निर्माण के समय कभी कभी स्वयं श्रीजीमहाराज भी घेला नदी के किनारों से अपने सिर पर पत्थर उठाकर सरे बाज़ार संघ के साथ निकलते और मन्दिर की नींव में पत्थर डालकर सहस्त्रों लोगों को सेवा-धर्म की ओर प्रवृत्तरत करते!

---

104. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, ४/२३, ले. ह. त्रि. दवे।

भूमि का सम्पादन, नक्शों का चित्रांकन, श्रम का आयोजन, आवश्यक धनराशि की प्राप्ति, नींव की खुदाई, चिनाई काम तथा काष्ठ कला आदि समस्त सेवा-कार्य श्रीहरि की आज्ञा से सन्त-हरिभक्त ही अपने जिम्मे उठा लेते थे!

मन्दिर-निर्माण के लिए श्रीहरि के भक्तों ने धन-दान आदि किया, समर्पण के इतिहास में आज भी उन भक्तों के नाम अमर नक्षत्रों की भांति जगमगाते हैं।

मात्र तेरह पैसे का 'सर्वस्व' दान अर्पण करने वाले दुबली भट्ट से लेकर अपना तन, मन और धन न्योछावर करने वाले दादाखाचर के समान समर्पित हरिभक्तों की एक लम्बी नामावली यहाँ लिखी जा सकती है!

जब से मुस्लिम आक्रान्ताओं का देव-मन्दिरों पर प्रलय बरसा था, तब से भारतीय स्थापत्यों तथा करोड़ों हिन्दुओं के आस्था-स्थान मन्दिरों की परम्परा प्रतिवर्ष निर्बाध खण्डहरों में परिवर्तित होती जा रही थी। देहाती लोगों के लिए अपने गाँव की देहरी ही सब से बड़ा तीर्थ था।

उक्त कारणों से महालयों के समान मन्दिरों की रौनक, द्वारिका तथा सोमनाथ के समान तीर्थों का प्रभाव उन दिनों विशेषतया गुजरात की ओर कम होता जा रहा था। ऐसे समय में भी प्रजा की चेतना को अध्यात्म की ऊँचाइयाँ छूने की ललक थी, जो केवल नूतन तीर्थधामों से ही तृप्त हो सकती थी।

भगवान स्वामिनारायण द्वारा निर्मित मन्दिरों में ऐसा क्या था, जो एक शाश्वत उपासना पद्धति तथा भक्ति परम्परा का पोषक बनकर लाखों का प्रेरणा स्रोत बन गया?

कविवर न्हानालाल इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से देते हैं, 'आबू या गिरनार (पर्वत) के पौत्रों के समान विशाल मन्दिरों में भगवान स्वामिनारायण ने कलात्मकता और स्थापत्य का संयोजन किया था। बड़े-बड़े द्वार और सुन्दर रूप-चौकियाँ देखनी हो तो इन मन्दिरों के दर्शन के बिना सब अधूरा ही है। यहाँ झरोखे हैं, सुशोभित फर्श हैं। संगमरमर और प्रादेशिक पत्थरों का समायोजन है। सभागृह तो हरेक मन्दिर का आकर्षक पहलू बनकर शोभा बढ़ा रहा है।'

'निहारनेवालों का कौतुक कभी न मिटे, ऐसी रमणीय, कमनीय देवप्रतिमाओं की तो बात ही क्या! मानो ऐश्वर्य और शोभा की जीवंत प्रतिमा! जिनके शृंगार भीतर के संसारी भावों को भुला देनेवाले होते हैं!

'इनके सभागृहों की विशेषता ही क्या है? जहाँ बीते सौ-सौ (आज दो सौ) साल से स्त्रियों का पदसंचार तक नहीं हुआ है, ऐसी भूमि को शास्त्रों ने क्वाँरिका भूमि कहा है। स्वामिनारायणीय सभागृह वास्तव में ऐसी ब्रह्मचारिणी भूमि रही है!'

'धूप, दीप, पुष्प, चन्दन, आरती की सौरभ, सभामंडपों में गूँजती हरिकथा, विशुद्ध-निर्व्यसनी वातावरण, बिना सिले हुए उत्तरीय ओढ़कर सेवा में निरत प्रातःकालीन धूप के समान काषाय वस्त्रधारी सन्त मंडल, आचार एवं व्यवहार मार्ग से परिशुद्ध स्वामिनारायणीय मन्दिर, स्वच्छ उत्सव परम्परा तथा शुद्धभाव से होते पूजन-दर्शन तथा कथा-कीर्तनों से आज भी हमारी आत्मा को आनन्द से झंकृत कर देते हैं।'

हाँ, यह नहीं सोचना चाहिए कि इन मन्दिरों की भूमिका केवल दर्शन-उत्सव तथा हरिकथा तक ही सीमित है। यह तो सामाजिक सेवा प्रवृत्ति की गंगोत्री के समान लोक-कल्याण के पावनकारी तीर्थधाम हैं। मन्दिर पर फहराते ध्वजों-पताकाओं के नीचे आज भी एक सौ साठ सामाजिक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। इस प्रकार ये मन्दिर शान्ति की यमुनोत्री हैं, सेवा की गंगोत्री हैं।

न्हानालाल आगे कहते हैं, 'जहाँ संसार की अग्नि बुझती चली जाती है, वही है धर्म-मन्दिर! पाठकवृंद! एक अनुभव करके देख लेना, प्रवृत्ति परायण किसी बड़े नगर में भी जाकर कभी स्वामिनारायणीय मन्दिरों की गुम्बद-घटा के नीचे आसन जमाकर बैठ जाना! आपको अवश्य अनुभूति होगी कि अंतरिक्ष से शीतलता की वर्षा हो रही हैं। आत्मा शान्ति की गहराई का अनुभव कर रही है। अंतःकरण पर ठंडक छा रही है और अंग-प्रत्यंग की आग शान्त होने लगी है। सार इतना ही है कि शरीर और चैतन्य में अत्यंत सूक्ष्म रूप से अमृत के झरने प्रवाहित होते हैं।'

भगवान स्वामिनारायण ने न केवल ईंट, चूना या मिट्टी से मन्दिर के भवन को जन्म दिया था, बल्कि भारतीय संस्कृति की गौरवमयी परम्परा

को प्रकट करके शान्ति, स्वच्छता, शुद्धि, सद्प्रवृत्ति, सेवा और स्थापत्य के समन्वय से भारतीय संस्कृति का पोषण और समाज के अनेक पापों का शमन भी किया था। आज उसी सांस्कृतिक धरोहर को लेकर प्रमुख स्वामी महाराज चारों अंगों को परिपुष्ट करते हुए हमारी सांस्कृतिक परम्परा को समय के साथ नूतन चेतना दे रहे हैं।

१०

उपदेशामृत

'मद्रूपं इति मद्वाणी' भगवान स्वामिनारायण ने कहा था, 'मेरी वाणी मेरा स्वरूप है!' उनकी वाणी कोई पहुँचे हुए सिद्ध महापुरुषों की वाणी से कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह वाणी है स्वयं पुरुषोत्तम नारायण की!

केवल लौकिक धरातल पर भी देखने से उनके अनुभवों की गहराई का परिचय मिल जाता है। ग्यारह साल की उम्र में पूरे भारत की पैदल यात्रा प्रारम्भ करनेवाले सहजानन्द स्वामी ने उन सात सालों में क्या-क्या नहीं देखा था! धर्मभंग साधुओं की विलासी चित्तवृत्ति, विषयी क्रियाकलाप, तन्त्र-मन्त्र के ज़ोर पर भोले-भाले भक्तों को अन्धश्रद्धा के फन्दे में फँसा देना, शास्त्रों के मन्त्रों का विकृत अर्थ-निरूपण तथा निर्दोष अनुयायी वर्ग को गुमराह करने की प्रवृत्ति।

उन्होंने धर्मधुरा धारण करते ही अपने भावपूर्ण उपदेशों, दृष्टान्तपूर्ण शैली तथा भक्तों के साथ जुड़े आत्मीय सम्बंधों से मानव परिवर्तन का आन्दोलन चला दिया था।

उनके स्नेह वचनों से गुजरात के गाँव-गाँव में पवित्र जीवन जीने की दृढ़ता आकार लेने लगी। स्त्रियों के विकास की दिशाएँ खुलने लगी, मुमुक्षुओं के लिए व्यवहारी साधना पद्धति का विकास होने लगा और आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त करने की ललक हर मुमुक्षु के हृदय में उठने लगी।

प्रासंगिक उपदेश में उनकी निपुणता ही ऐसी थी, कि सहज-सहज में वे अपने शिष्यों की भीतरी चेतना को झंकृत कर देते थे!

भक्ति का सौरभ

एक दिन की बात है। सूरत के एक गरीब दर्जी आत्माराम ने बड़े स्नेहभाव से श्रीहरि के लिए एक कुर्ता सिया। उसने हर टाँके में अपना प्रेमभाव उँडेल दिया था। महाराज भी इस कलात्मक कुरते को हर समय पहना करते थे। एक दिन भावनगर के महाराजा के निमन्त्रण से महाराज को राजमहल में जाना था। महाराज यही कुर्ता पहनकर तैयार हुए, तब एक भाविक सत्संगी रूपाभाई ने महाराज के वस्त्र पर इत्र की फुहार छोड़ दी। पल भर के लिए महाराज रुक गए और रूपाभाई की ओर निहारने लगे, उन्होंने कहा, 'महाराज, यह एक रिवाज है, इससे पूरा शरीर और वस्त्र महकने लगते हैं।'

महाराज ने धीरे से, परन्तु दृढ़ स्वर में कहा, 'रूपाभाई, अन्तःकरण मैला हो और विकार-वासना के पसीने की बू आ रही हो, ऐसे शरीर की दुर्गंध दबाने का यह रिवाज है? इसके बदले भक्ति से अन्तःकरण भर दिया होता, तो इतनी सुगन्ध फैलती, कि इत्र की सुगन्ध की तो बिसात ही क्या है!'

सब मन ही मन समझ गए, कि महाराज का संकेत क्या है!

सच्चा शौर्य

पगियों की जाति के कुछ लोगों ने उन दिनों खेड़ा जिले में पाप-प्रवृत्तियों के चलते चारों ओर आतंक मचा रखा था। भगवान स्वामिनारायण ने एक के बाद एक गिरोह के मुखिये को मिलकर सदाचार की राह दिखा दी थी। ऐसा ही एक सरगना था तखा पगी। महाराज एक दिन वरताल की

धर्मसभा में विराजमान थे, कि तखा पगी अपने साथियों सहित आ पहुँचे। उन्होंने जब से आदेश पाया था, तब से चोरी-ड़कैती छोड़ दी थी, लेकिन आज महाराज ने कहा, 'पगी, यदि हमें प्रसन्न करना हो, तो धनुष-बाण और तलवार-भाले तथा बन्दूक भी छोड़ देनी होगी। हाथ में माला रखना सीखो, वरना वही होगा जो तुम पहले किया करते थे! शस्त्र से मन करता है कि हिंसा करो! माला से मन करता है कि भजन करो। अतः सच्चा शौर्य है इन्द्रियों के ऊपर संयम पाने में, ब्रह्मचर्य के पालन में। शस्त्र का उपयोग तो तभी करना चाहिए जब गरीब, दलित, पीड़ित लोगों की रक्षा करनी हो या स्त्री तथा गायों की सुरक्षा करनी हो।'[105]

कड़ुआ औषध

दीपावली का दिन था। बच्चे पटाखे छोड़ने का आनन्द लूट रहे थे। महाराज ने इन्हें देखा तो स्वयं भी प्रसन्न हुए, लेकिन साथ में विराजमान सन्तों की ओर देखकर कहने लगे, 'यही बच्चे बड़े होंगे, तो उनको पटाखों जैसे खेलों में दिलचस्पी नहीं रहेगी, उसी प्रकार मनुष्य जब तक अज्ञान के वश में रहता है, तब तक परमात्मा के दिव्य आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाएगा। जब ज्ञान होगा, तब विषय सुख से मुड़कर वीतराग के आनन्द की ओर चलेगा!'[106]

भगवान स्वामिनारायण अधिकांशतः गढ़पुर में बिराजमान रहते और जब तक गढ़पुर में होते, उपदेश का स्थान दरबारभवन के बीच में खड़े नीम की छाँव के नीचे रहता। एक दिन किसी ने यूँ ही पूछ लिया, 'नीम की छाँव आपको बहुत पसन्द है महाराज?!'

'हाँ,' श्रीहरि ने स्मित करते हुए कहा था, 'क्योंकि कड़ुआ होते हुए भी यह हमारे रोगों को भगाता है। हमारा उपदेश भी नीम की भाँति है। लगता है तो कड़ुआ, लेकिन विषयरोग और भवरोग को मिटाने में उसका कोई सानी नहीं है।'[107]

---

105. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/९८ ले. ह. त्रि. दवे।
106. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/३१३ ले. ह. त्रि. दवे।
107. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण, २/४७७ ले. ह. त्रि. दवे।

दो आमों सा संसारी सुख

सूरत के हरिभक्त कारियाणी पहुँचे तो कुछ आम महाराज के चरणों में रख दिए। छोटा-सा बच्चा जोईता खाचर इन्हें लेने के लिए महाराज के आसन के इधर-उधर मंडराने लगा। महाराज ने भाँप लिया, तो उसे बुलाकर पूछा, 'आम खाएगा ?'

'हाँ महाराज!' उस सात साल के बच्चे ने कहा। भरी सभा में महाराज ने कहा, 'तेरे गले में पड़ी सोने की डोरी देगा, तो आम मिल जाएंगे।'

उसने बिना सोचे ही पलभर में 900 रुपये का वह आभूषण महाराज को सौंप दिया। महाराज के हाथों से दो आम लेकर प्रसन्न होकर चला गया।

महाराज ने उस आभूषण को सभा में दिखाकर कहा, 'देखा आपने? इस गहने में कितने आम भरे पड़े हैं, इसकी उसे कल्पना भी नहीं होगी! क्योंकि उसे सोने का ज्ञान नहीं है! तभी तो दो आम के लिए इसको उतारकर फेंक दिया! उसी प्रकार बिना भगवान तथा सन्त की महिमा, हमारा मन संसार के दो आमों के समान सामान्य सुख में प्रसन्न रहता है, किन्तु जब सत्संग करते हुए व्यक्ति मनुष्य देह की, भगवान और सन्त की तथा इस दिव्य ज्ञान की महिमा समझ लेगा, तब अपने इस मानव-शरीर का उपयोग उचित मार्ग पर ही करेगा।'

सहजभाव से किसी भी घटना, प्रसंग या परिस्थिति से कुछ सारभूत तथ्यों को प्रकट करके भक्तों की भीतरी वृत्तियों का गढ़न करना भगवान स्वामिनारायण की विशेषता थी। तो उनके उपदेशों के सम्पादन से संसार को 'वचनामृत' के समान अध्यात्म ग्रन्थ का मिलना भी संसार का अहोभाग्य ही था।

परावाणी का दिव्य ग्रन्थ 'वचनामृत'

गुजरात में भगवान स्वामिनारायण का निवास 30 साल से अधिक नहीं था। उन्होंने 18 साल की उम्र में गुजरात को अपनी कर्मभूमि बनाया

और केवल 49 वर्ष की उम्र में गढ़पुर में अपनी दिव्य जीवन लीला समेट ली!

समय के इस छोटे-से अन्तराल में उन्होंने कर्मयोग के आधार पर **समाज सेवा** की विविध प्रवृत्तियों का जो सिलसिला चलाया, **विचरण** के द्वारा देहातों की झुग्गियों तक जाने की आत्मीय परम्परा प्रारम्भ की, **उत्सवों** के सफल आयोजनों के साथ-साथ **मन्दिर-निर्माण** का महायज्ञ रचा, वहाँ केवल उपदेश देने की गुंजाइश कम ही रही होगी, ऐसा भ्रम पैदा होना असम्भव नहीं है, परन्तु सद्भाग्य की बात रही है कि ऐसा नहीं हुआ था।

हाँ, उनके प्रारम्भिक बीस वर्ष के उपदेशों का कोई संग्रह नहीं मिलता, परन्तु अन्तिम 10 वर्षों के उपदेश-संग्रह को पढ़ने से तो लगता है, एक दृष्टा के अधिकार से बहती इस परावाणी के स्रोत 'वचनामृत' में प्रेरणा, तत्त्वज्ञान, व्यावहारिकता का निरूपण, एकान्तिक धर्म का विवरण - आदि ऐसे ऐसे मोती बुनते चले जाते हैं कि यह ग्रन्थ सरलता, सुबोधता और तर्क-समन्वय का त्रिवेणी संगम-सा दिखाई देता है।

इस ग्रन्थ में उनके केवल 273 छोटे-छोटे प्रवचनों का संग्रह हैं जो गढ़डा, सारंगपुर, लोया, पंचाला, अहमदाबाद आदि स्थानों पर दिये गए थे। उन्हीं के पाँच विद्वान सन्तों ने इस परावाणी को सम्पादित करके ग्रन्थ का स्वरूप दिया। भगवान स्वामिनारायण स्वयं इसे पढ़कर अपने ही उपदेश की प्रमाणिकता को व्यक्त करते हुए प्रसन्न हुए थे। वे विद्वान सन्त थे : स्वामी गोपालानन्दजी, स्वामी नित्यानन्दजी, स्वामी मुक्तानन्दजी, स्वामी ब्रह्मानन्दजी और स्वामी शुकानन्दजी।

यह ग्रन्थ समग्र रीति से जीव को ब्राह्मीस्थिति के उच्चतम स्तर पर पहुँचानेवाली साधना का ही ग्रन्थ है; जो जीवन-स्पर्शी है! इसी कारण हम उसे 'Applied Philosophy' अर्थात् व्यावहारिक दर्शन का ग्रंथ भी कह सकते हैं। कविवर न्हानालाल ने इसे 'ब्रह्मसूत्र का सर्वोत्तम भाष्य' कहा था। न इसमें कहीं रूढ़िवाद या जड़ता का दर्शन है, न ही चमत्कारों की महिमा। बुद्धिगम्य ज्ञान से परिपूर्ण इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि जिसकी बुद्धि में जितनी सूक्ष्मता है उतना सार तत्त्व इससे पाया जा सकता है।

क्या है इस ग्रंथ में?

1. शुद्ध वेदांत की समझ।
2. चारों वेदों का समन्वय।
3. वेद के बारह महावाक्यों की स्पष्ट व्याख्या।
4. सांख्य, योग, वेदांत, पंचरात्र - चारों शास्त्रों को एक-दूसरे की अपेक्षा के साथ समझने की रीति।
5. आत्म साक्षात्कार की भूमिका पर पहुँचने के लिए सांख्यनिष्ठा एवं योगनिष्ठा की अनिवार्यता।
6. भागवत धर्म के पोषक एवं मोक्ष के द्वाररूप, भगवत् साक्षात्कारवाले सत्पुरुष का पृथ्वी पर निरंतर प्राकट्य।
7. भगवान के सम्बंध में आए भक्तों को सत्पुरुष के साथ आत्मबुद्धि करने की महत्ता।
8. धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति युक्त एकांतिक धर्म का विवरण।
9. गुणातीत स्थिति तथा इस स्थिति को सिद्ध करने की साधना।
10. गुणातीत सत्पुरुष का प्राकट्य।
11. परब्रह्म परमात्मा तथा उनके निवास रूप दिव्य अक्षरधाम।
12. अक्षरधाम के मूर्त एवं अमूर्त स्वरूपों का ज्ञान।
13. माया, ईश्वर, जीव आदि के पृथक् स्वरूपों का यथार्थ निरूपण।
14. कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का समन्वय।

- आदि विषयों पर स्पष्ट विवेचन तथा मुमुक्षु को आत्यंतिक कल्याण में सहायक अनेक प्रकार की बातें वचनामृत में स्पष्टरूप से समाहित हैं!'[108]

स्वयं भगवान स्वामिनारायण ने अपनी वाणी की प्रामाणिकता को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है, 'मुझे यह बात किसी प्रकार के दम्भ या अहंकार के कारण अथवा अपने बड़प्पन को बढ़ाने के लिए नहीं करनी है। वास्तव में हम तो यह जानते हैं कि यदि यह बात किसी को भी समझ में आ जाए, तो उसके जीव का बहुत कल्याण होगा!'

'इस प्रयोजन से ही मैं यह बात कह रहा हूँ, जो मैं देख चुका हूँ

108. ह. त्रि. दवे : स्वामिनारायण सन्त साहित्य : संपादक : रघुवीर चौधरी।

तथा अपने अनुभव से भी मैंने जिसे सिद्ध कर लिया है और इस बात में सभी शास्त्र भी सहमत है।' (वच. ग. म. 13)

ऐसे स्नेहार्द्रभाव से कही हुई बातों में लाघव है, मौलिकता है, तटस्थता है, आत्मीयता है, सहजता है, माधुर्य है और एक ही उपदेश-पंक्ति में ठोस अनुभव है! साथ-साथ तत्त्वज्ञान तथा शास्त्रों का सार भी है!

देखिए श्रीहरि की मौलिक व्याख्याओं के लाघव का चमत्कार -

- माया क्या है?, 'भगवान की मूर्ति का ध्यान करते समय जो पदार्थ बाधा उपस्थित कर आवरण खड़ा करे, उसे ही 'माया' कहते हैं!' (वच. ग. प्र. 1)
- अज्ञानी कौन है? 'जो स्वयं अपने रूप को (आत्मा को) नहीं देखता है, वही अज्ञानी है!' (ग. प्र. 20)
- बुद्धिमान कौन है? 'जो अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करते हैं वही बुद्धिमान हैं!' (ग. प्र. 50)
- पुरुषप्रयत्न क्या है? 'पवित्र साधु का संग हो तथा जो अपने स्वयं के विचारों का दृढ़ अनुसरण करके पवित्र हो जाता है, उसे पुरुषप्रयत्न कहना चाहिए!' (ग. प्र. 29)
- पक्का सत्संगी कौन? 'जो नियम, निश्चय तथा भक्त का पक्ष रखता है!' (ग. म. 61)
- स्वभाव क्या है? 'पूर्वजन्म के कर्म परिपक्व अवस्था को पाकर जीव के साथ आत्मसात् हो चुके हों, वे कर्म ही स्वभाव बन जाते हैं!' (ग. अं. 20)
- स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं? 'भगवान के स्वरूप का जिसे निश्चय हो, और जो मनुष्यभाव, दिव्यभाव को एक समझता हो, वही स्थितप्रज्ञ है!' (वर. 17)
- असुर कौन है? 'भगवान की महिमा की आड़ में जो स्वधर्मनिष्ठा को खोटी करता है वही असुर है!' (वच. ग. अं. 36)
- कौन सुखी नहीं होता? 'महापुरुषों ने जो धर्ममर्यादा निर्धारित की है, उसको तोड़कर कोई भी सुखी नहीं हो सकता!' (वच. ग. म. 51)
- त्याग क्या है? 'परमेश्वर के सिवा जिस-जिस पदार्थ में अधिक प्रीति

हो उस पदार्थ का सर्वथा परित्याग ही वास्तविक त्याग कहलाता है।'

हर मुमुक्षु के जीव को भेदती हुई इस परावाणी की विशेषता देखिए, इन वाक्यों को हर किसी कि अंतरात्मा स्वीकार करती है, न कोई इसे नकार सकता है, न इस पर कोई तर्क उठा सकता है!

❖ ❖ ❖

ग्रन्थ की शैली है प्रश्नोत्तरी की, समस्या के सामने तुरन्त समाधान रखने की। मुमुक्षुओं के गहनतम प्रश्नों का श्रीहरि यथाशीघ्र और यथार्थ उत्तर दे देते थे। यह उपदेशरीति न केवल उत्साहवर्धक रहती थी, अध्यात्म जिज्ञासा को सन्तुष्टि देनेवाली भी होती थी।

गुजरात के मूर्धन्य विवेचक चं.ची. मेहता ने इस विषय पर अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है, 'इस ग्रन्थ की स्पष्टता, उसमें दी गई तर्कशुद्ध प्रस्तुति पढ़नेवाले को मुग्ध करती है। श्रीजीमहाराज की वाणी हृदय को भेदनेवाली है। इससे मानव-मन में उत्पन्न होती अनेक शंकाओं का शमन उसी क्षण हो जाता है और वह भी इतना प्रभावक होता है कि फिर उस संशय का उठना असम्भव हो जाता है। श्रीहरि की वाणी में उभरती नम्रता तथा मार्गदर्शन का वह स्रोत वास्तव में अद्‌भुत प्रेरणा देता रहता है।' आइए, कुछ ऐसे ही मार्मिक मार्गदर्शन के विषय में वचनामृत की विलक्षणता को देखें।

मन के बुरे संकल्पों का उपाय

समस्त संसार के हर सात्त्विक मनुष्य की यह समस्या है कि मन दिन-रात बुरे संकल्पों के दलदल में फँसा रहता है। ऐसे बुरे संकल्पों को किस प्रकार हटाया जाए?

भगवान स्वामिनारायण वचनामृत : लो. 6 में इसका व्यावहारिक उपाय बताते हुए कहते हैं, 'जब इस तरह के कुसंकल्प होने लगे, तब उस ध्यान को छोड़कर, कोई लज्जा किए बिना ही उच्च स्वर से ताली बजाते हुए 'स्वामिनारायण, स्वामिनारायण' भजन करना चाहिए, तथा 'हे दीनबन्धु! हे दयासिन्धु!' शब्दों से भगवान की प्रार्थना करनी चाहिए। मुक्तानन्द स्वामी जैसे भगवान के बड़े सन्त का नामोच्चार करते हुए उनकी प्रार्थना करनी

चाहिए, इससे समस्त कुसंकल्प मिट जाते हैं, तथा शान्ति भी हो जाती है, परन्तु इसके बिना उन्हें टालने का अन्य कोई उपाय नहीं है।'

वच. लोया 6 में प्रत्येक प्रश्न तथा प्रत्येक उत्तर अत्यन्त वास्तविक भूमिका पर खड़ा होकर ही दिया गया है, वे पूर्णतः ठोस एवं असरकारी हैं!

स्वभाव-दोषों को मिटाने का उपाय

सैकड़ों-हज़ारों लोगों की मृत्यु बाढ़ की एक ही चपेट में हो जाती है, और समाचार पूरी दुनिया में आग की तरह फैल जाता है। ज्वालामुखी या भूकम्प के कारण, चक्रवात या बाढ़ के कारण इतनी भयानक घटना होती है कि मानव अपने पूरे बुद्धिबल, सत्ताबल या विज्ञान-बल के बावजूद अपने आप को तिनके की भाँति हल्का अनुभव करता है।

विपत्ति मानव को दो प्रकार से घेरती है। एक, प्राकृतिक दुर्घटनाओं से तथा दूसरी मानव सर्जित आपत्तियों से।

ये हैं कुछ मानवसर्जित आपत्तिओं की वर्तमानपत्रों में लगातार छपती खबरें -

- छः वर्ष की बालिका बलात्कार की शिकार,
- बस और टैन्कर की भिंड़त, 37 की मौत, शराबी ड्राइवर का आतंक!
- रु. 2000 के कर्ज़ के मामले में दो गुटों के बीच तनाव-तीन की हत्या!

हाँ, प्रकृति के झंझावातों को रोकना, मानव के बस की बात तो नहीं है, लेकिन अपने स्वभाव के अनुसार ही व्यवहार करना, इसे तो मानव रोक सकता है! यद्यपि वह है कठिन किन्तु असम्भव नहीं।

भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहते हैं :

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

अर्थात् ज्ञानी होने पर भी लोग अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते रहते हैं, वे स्वभाव के ऊपर निग्रह (संयम) नहीं कर पाते। स्वभाव की हठधर्मिता और अहंकार के वश होकर दुर्योधन ने पूरे भारत

वर्ष के विनाश को न्यौता दे दिया था।

काम विवश रावण द्वारा सीताजी पर हुई कुदृष्टि ने पूरे असुर साम्राज्य के पतन को निमन्त्रण दे दिया था।

भाई-भतीजावाद बाहर दीखता है और कारण तो भीतर पनपता है, ममत्व! 'मामकाः' की आसक्ति धृतराष्ट्रवृत्ति है और प्रत्येक सत्तास्थान इस विकृति से ग्रस्त दिख रहा है।

एड्ज़ बाहर दिखता है और भीतर का कारण है काम-वासना! बेरोजगारी एवं भ्रष्टाचार का दलदल बाहर दिखता है, कारण है लोभ और लालसा! आलस्य और अकर्मण्यता! क्या हमें इस जड़ता के अन्धकार में स्वभाव से ऊपर उठने की आवश्यकता नहीं है? क्या हमें इस अन्धकार से ज्ञान के प्रकाश की ओर जाने का मन नहीं है?

श्रीजीमहाराज कहते हैं कि यदि कोई कुस्वभाव हमारे जीवन में है, उसे सन्त की संगत से सोच-विचार करके मिटा दें, तो उस कुस्वभाव का नाश हो जाता है। (वच. सा. 18)

'जो स्वभाव विघ्न खड़ा कर देता है, उस पर शत्रुभाव आने लगे कि मैं भगवान का भक्त हूँ, और ऐसा बुरा स्वभाव मुझे शोभा नहीं देता! इस प्रकार उसे दोषरूप जानकर (उस स्वभाव पर शत्रुता रखते हुए) ज्यों-ज्यों स्वभाव को छोड़ने की इच्छा करता है, तो भगवान के प्रताप से स्वभाव की निवृत्ति हो जाती है!' (वच. ग. म. 15)

'जिस दिन से सत्संग में प्रवेश हुआ हो, उस दिन से अपने अंतःकरण का निरीक्षण करना चाहिए कि सत्संग के प्रथम वर्ष में मेरा मन ऐसा था, बाद में इस प्रकार था, तथा इतनी भगवान की और इतनी जगत की वासना थी। इस प्रकार प्रतिवर्ष सत्संग का लेखा-जोखा करते रहने से वासना धीरे धीरे मिटती रहती है...।' (वच. ग. प्र. 38)

'अतः स्वभाव के ऊपर शत्रुभाव रखना ही उसे मिटाने के सर्व विचारों में श्रेष्ठ विचार है!'

धैर्य का उपाय

स्वभावों के प्रचण्ड आघातों के कारण अन्तःकरण में रखी हुई

सत्संग की नींव भी हिल जाती है, ऐसे समय पर किस प्रकार का उपाय किया जाना चाहिए?

मुक्तानन्द स्वामी ने ग. प्र. 61 में पूछा है कि काम, क्रोध, लोभ तथा भय के कारण भी धैर्य न टूटे इसका क्या उपाय है?

श्रीहरि उत्तर देते हुए कहते हैं, 'मैं देह नहीं, बल्कि शरीर से भिन्न और सबको जाननेवाली आत्मा हूँ! ऐसी आत्मनिष्ठा जब सुदृढ़ हो जाती है, तब किसी भी तरह धैर्य नहीं टूट सकता। किन्तु बिना आत्मनिष्ठा के यदि अन्य कितने ही उपाय किए जाएंगे, तो धैर्य कभी नहीं रहेगा!'

सर्वांगीण विकास का राजमार्ग

इसी प्रकार 'सदैव सुखी रहने के उपाय (ग. अं. 8), दुःख होने के कारण (ग. अं. 38), अध्यात्म मार्ग से गिर न पड़ने की जागृति एवं चेतावनी (सा. 18, ग. प्र. 18, ग. म. 45), पंचविषय में समभाव (पं. 1), काम आदि दोषों को जीतने के उपाय (ग. म. 33, ग. प्र. 73), भक्त होने पर भी दुःख क्यों आते हैं? (ग. प्र. 34), सकारात्मक विचारधारा के बुनियादी लक्षण एवं उसकी फलश्रुति (ग. प्र. 17, 28, लो. 17), प्रेरक शक्ति (मोटीवेश्नल फोर्स) की प्रेरणा द्वारा निश्चयात्मक दृढ़ता रखने का उपाय (ग.म. 33, ग. प्र. 15, 17)। ऐसे आध्यात्मिक मूल्य तथा आध्यात्मिक गहराईयों को छूनेवाला अमृत हमारी सन्तप्त आत्मा पर संजीवनी की फुहारें उड़ाकर मन-हृदय को परम शान्ति प्रदान करता है। यही कारण है कि ये शब्द हमारे सर्वांगीण विकास का राजमार्ग बन जाते हैं।

अभिप्रेरणा का स्रोत

स्वयं भगवान स्वामिनारायण केवल 11 वर्ष की आयु में भारत की यात्रा पर पैदल निकल पड़े थे। अनेक विघ्न भी उन्हें अपने ध्येय से विचलित नहीं कर पाए थे। 13 वें साल में हिमालय की उन ऊँचाइयों पर वे ढाई मास तक एक वस्त्र में ठहरे, जहाँ कड़कड़ाती ठंड न्यूनतम तापमान बताती है! न उनके पास तब नक्शा था, न पैसा, न सुविधापूर्ण

वस्त्र या चुल्लुभर पानी रखने का भी कोई साधन, न पाँव में पड़ते छाले को रोकने के लिए जूते, न पेट भरने के लिए अनाज का दाना! फिर भी वे तप के आदर्श को ग्रहण करते हुए वन-वन, पर्वत-पर्वत हिमकन्दराओं में, बर्फ़ीले पहाड़ों की चोटियों को लाँघकर गंगोत्री से नीचे आए बिना, हिमगिरि के रास्ते से ही बदरीनाथ और केदारनाथ तथा नेपाल में मुक्तनाथ-पुलहाश्रम और मानसरोवर तक अकेले घूमे थे! सिर्फ अकेले! और देखिए उन्हीं के शब्दों में उनकी तपश्चर्या का बयान :

'जब हम श्री पुरुषोत्तम पुरी (जगन्नाथपुरी) में निवास करते थे, तब कई मास तक वायु-भक्षण करके ही रहे थे, तथा एक बार तो हमने तीन-चार कोस की पाटवाली नदी में अपना शरीर बहता हुआ छोड़ दिया था! शीतकाल, ग्रीष्मकाल और वर्षाऋतु में हम बिना छाँव के (बिना कोई आश्रय लिए) मात्र एक कौपीन धारण करके रहते थे, तथा झाड़ी में बाघों, हाथियों और जंगली भैंसों के साथ घूमते-फिरते थे। हमने ऐसे-ऐसे अनेक ठिकानों में भ्रमण किया, तो भी किसी तरह देह नहीं छूटी।' (वच. ग.प्र. 29)

ऐसे वचनों से अभिप्रेरणा का स्रोत सदैव बहता रहता हो, उसमें क्या कहना? श्रीहरि के उपदेशों में हम ध्येय की दिशा की ओर गति देने की शक्ति देख सकते हैं।

देखिए : वच. ग. प्र. 15, 'भगवान की मूर्ति को हृदयस्थ करने में (भक्त को) आन्तरिक शौर्य रखना चाहिए, यदि मूर्ति हृदयस्थ करते समय अंतःकरण में अनिच्छनीय-अशुभ संकल्प उत्पन्न होने लगें, और हटाने पर भी हटने का नाम न लें, तो भगवान की अपार महिमा समझकर, स्वयं को पूर्णकाम मानकर उन अशुभ संकल्पों को निकालते रहें, तथा भगवान की मूर्ति हृदयस्थ करते रहें। यदि मूर्ति हृदयस्थ करने में दस वर्ष हों, बीस वर्ष हों, पच्चीस वर्ष हों, अथवा सौ वर्ष हो जाएं, फिर भी कायर बनकर भगवान के स्वरूप के ध्यान करने में उत्साहहीन मत बनना...। जो इस प्रकार करता है, उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं!'

अध्यात्म की ओर चलनेवालों में कायरता को श्रीहरि सहन नहीं कर पाते। क्योंकि यह कोई निठल्ले आदमियों की दिखावी कवायद थोड़े ही

है, जो केवल समय गँवाने के लिए ही की जाती हो। अध्यात्ममार्ग पर जो वीर की भाँति अपने अंत:करण की विकृतियों के साथ विजेता होने की ठान लेता, श्रीहरि तो ऐसे अध्यात्मवीर को भरी सभा में सम्मानित करते थे! उसे प्रोत्साहित करके और भी सुदृढ़ बनने का आशीर्वाद देते थे। वच. लोया 2 में इस भावना का प्रतिबिम्ब सहज ही देखने को मिलता है।

ग.प्र. 17 में कायर की उन्होंने बड़ी निंदा की है, 'अब आज से इस सत्संग में कोई भी उत्साहहीनता की बात न किया करें। हमेशा साहस और उत्साह के साथ ही बात करते रहना। जो ऐसी उत्साहहीन बात करे, तो उसे नपुंसक ही समझना चाहिए। यदि किसी से जिस दिन कायर की भाँति बात हो जाए, तो उस दिन उपवास करना।'

यहाँ, ग.म. 33 के इस वाक्य की शक्ति को देखिए, 'ऐसी कौन-सी बात है, जो मनुष्य देह से असम्भव हो?'

किसी भी चुनौती को ललकारने की तैयारी अध्यात्म के साधकों को हमेशा करनी पड़ती है। उस चुनौती को पार लगाने की शक्ति भी हमें अपने ही बलबूते पर प्राप्त करनी पड़ती है। इस बात को यहाँ एक ही वाक्य में श्रीहरि ने सहजरूप से बता दिया है!

अभिप्रेरणा का यह प्रवाह यदि कोई आत्मसात् कर ले तो उसे भौतिक प्रगति की राह तो मिलती ही है, किन्तु अध्यात्म की राह पर चलने की शक्ति भी मिला करती है।

सम्प्रदाय का धर्मशास्त्र : शिक्षापत्री

मुम्बई प्रान्त के तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर थे सर जॉन माल्कम। भगवान स्वामिनारायण के अन्यतम लोक-कल्याण की यशगाथा उनके कानों तक भी पहुँच चुकी थी। सन् 1830 में उनके स्नेह-निमन्त्रण से भगवान स्वामिनारायण राजकोट पधारे थे। इस ऐतिहासिक भेंट के समय गवर्नर ने कहा था, 'स्वामिनारायण, आप के पुरुषार्थ से सौराष्ट्र में शान्ति पुन:स्थापन हो सकी है जो कि बिलकुल असम्भव कार्य था। अनेक चोर-डकैत आप के संसर्ग से नियमव्रतधारी भक्त बने हैं, यह वास्तव में आश्चर्य की घटना है। जो काम हमारे कानून न कर सके या हमारे सिपाहियों की

तलवारें न कर सकीं, आपके प्रेम और ऐश्वर्य ने कर दिखाया!'

महाराज ने सहज ही कहा था, 'लोगों के साथ स्नेहभाव से मिलजुलकर उनके जीवन में हमारे सन्तों ने नीति, न्याय तथा धर्म के सिद्धान्तों को आत्मसात् करवाया है।'

तब गवर्नर श्री माल्कम ने बड़ी जिज्ञासा से एक विनम्र माँग की थी, 'स्वामिनारायण, आपके सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को ठीक ढंग से समझने के लिए क्या आप अपनी कोई पुस्तिका या ग्रन्थ दे सकते हैं?'

भगवान स्वामिनारायण ने उपहार-स्मृति के रूप में उन्हें 'शिक्षापत्री' अर्पण की थी! क्या विशेषता है इस 'पत्री' की? 'पत्री' के नाम से बोध होता है किसी छोटी-सी पुस्तिका का! जो सही है। यह केवल 212 श्लोकों का सरलतम संग्रह है! और 'शिक्षा' से मालूम होता है कुछ सदाचार के नियमों का उद्घाटन तथा प्रस्थापन!

अध्यात्म के चरमोत्कर्ष तक यात्रा करानेवाले भगवान स्वामिनारायण ने मुमुक्षु के लिए साधना का मार्ग तय करने का प्रारम्भ इस छोटी-सी 'शिक्षापत्री' में किया है।

ईश्वर पेटलीकर ने ठीक कहा था कि भगवान स्वामिनारायण ने असामान्य के आसन से सामान्य सा ग्रन्थ क्यों लिखा? क्योंकि उस समय त्यागी तथा पंडित वर्ग, धर्म को केवल मोक्ष का विषय ही समझकर अपने काल्पनिक मनोलोक में विहार करते थे। जब कि अंधश्रद्धामूलक कर्मकांडों को धर्मगुरुओं ने परम्परा के रूप में ले लिया था। इस प्रकार आदतवश लोकजीवन में स्वच्छता या सदाचार की व्यापक उपेक्षा करना ही उनका लक्ष्य बन गया था। ऐसी स्थिति में भगवान स्वामिनारायण की लोकहित दृष्टि इतनी व्यापक थी कि उन्होंने पिछड़े हुए लोगों का भी विचार किया तथा शिक्षापत्री के द्वारा सदाचार का प्रसार किया।[109]

यह मनुष्य शरीर से होनेवाली साधना की मार्गदर्शिका है। सदाचार, शिष्टाचार, धर्माचार की नित्य-नियमावली है। लोकजीवन की भूमिका से अभिव्यक्त तथा उच्च आदर्शों तक पहुँचानेवाले सिद्धान्तों की ऐसी सीढ़ी

109. श्री स्वामिनारायण अने अद्यतन हिन्दूधर्मप्रवाह (गुजराती). लेखक : ईश्वर पेटलीकर : पृ. ६५-६७।

है, जिस पर चढ़कर हर मानव स्व-विकास, सत्संग-विकास, पारिवारिक शान्ति तथा सामाजिक सुरक्षा को सहज ही पाने लगता है।

इसी कारण तो न्हानालाल ने कहा था, 'शिक्षापत्री ने संसार एवं धर्म की फुलवारी की क्यारियों के टूटे हुए किनारों को सँवारा है, इसी कारण उसको दिया गया विरुद 'सर्वजीव हितावह' पूरी तरह सार्थक लगता है।'

इस छोटे-से ग्रन्थ में 324 शास्त्रों के 3949 सन्दर्भों का समावेश किया गया है तथा सत्संगियों के नित्यकर्म तथा नैमित्तिक कर्मों का विवरण दिया गया है। साथ-साथ हिन्दू शास्त्रों की समझ, तात्त्विक सिद्धान्तों का सारांश, सम्प्रदाय के त्यागी वर्ग के नियम-धर्म तथा अन्य अनेक क्षेत्र के लाखों लोगों को अपने-अपने क्षेत्र का मार्गदर्शन दिया गया है।

पर्यावरण प्रेम, माता-पिता की सेवा, जीवप्राणीमात्र के प्रति करुणा दृष्टि, कानून की सुरक्षा, मजदूरों के प्रति आत्मीयता से भरा व्यवहार, व्यसन-मुक्ति से कुटुम्ब-शान्ति का उपाय, घर को मन्दिर बनाकर भक्तिमय जीवन जीने का आदेश, क्या-क्या नहीं है इस छोटी 'गागर' में! मानो इसमें सागर ही समाया हो!

सरदार पटेल ने वैसे ही नहीं कह दिया था, 'यदि हमारे राष्ट्र का हर नागरिक 'शिक्षापत्री' के आदेशों के अनुसार चले, तो देशभर में पुलिस, कानून या अदालतों की कम से कम आवश्यकता रह जाएगी। यह एक निर्विवाद सत्य है।'

सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त केवल एक श्लोक में ही देकर तो उन्होंने कमाल कर दिया है :

'स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन प्रकार के देहों से विलक्षण अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानकर ही सर्वदा परब्रह्म की भक्ति करें।' (शिक्षापत्री : 116)

एक सदाचार के स्मृति-ग्रन्थ के समान इस छोटी-सी पुस्तिका में अक्षरब्रह्म - परब्रह्म दर्शन का सार रूप यह श्लोक हमें स्मरण कराता है, कि भगवान स्वामिनारायण का उद्देश्य मात्र यह नहीं था कि मानव सदाचार के वर्तुल में अपने व्यक्तित्व के विकास को समेट ले। वे तो चाहते थे, आत्मज्ञान के द्वारा प्रत्येक मानव परमात्मज्ञान का साक्षात्कार पाकर अध्यात्म

के अन्तिम लक्ष्य को भी प्राप्त करें! लीजिए, इस ग्रन्थ से कुछ आचमन :[110]

1. शिक्षापत्री सर्व जीवों का हित करनेवाली, परम कल्याणकारी है। सभी मनुष्यमात्र को मनोवांछित फल देनेवाली है। (7, 11, 204)
2. अगर हमारे आश्रित पुरुष एवं स्त्रियां इस शिक्षापत्री के अनुसार आचरण रखेंगे तो वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चार पुरुषार्थ की सिद्धि को अवश्य प्राप्त करेंगे। (206)
3. जो मनुष्य सत्शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित अहिंसा आदि सदाचार का पालन करते हैं, वे मनुष्य इस लोक और परलोक में सदा सुखी रहते हैं। (8)
4. अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का कोई सत्संगी त्याग न करें और परधर्म, वेद से विरुद्ध धर्म तथा कल्पित धर्म का आचरण न करें। (24)
5. नित्य प्रति सन्तजनों का सत्संग करें। (36)
6. हमारे सभी भक्तजन प्रतिदिन सायंकाल भगवान के मन्दिर जाएँ।[111] (63)
7. भगवान की कथा-वार्ता परम आदर से करें और सुनें। (64)
8. अहिंसा परम धर्म है, ऐसा सर्व शास्त्रों का कथन है। (12)
9. देवता और पितृ के यज्ञ के लिए भी हिंसा न करें। (12)
10. स्त्री, धन-प्राप्ति एवं साम्राज्य-लाभ के लिए भी कभी किसी भी हालत में किसी भी मनुष्य की हिंसा न करें। (13)
11. आत्महत्या कभी न करें, तीर्थ में भी आत्महत्या न करें; क्रोधावेश में या कभी कोई निन्दनीय कर्म हो जाने पर लोकनिन्दा के भय से भी आत्महत्या न करें। (14)
12. जो मनुष्य जिस प्रकार के गुणों से युक्त हो उसको उसी प्रकार की क्रिया में लगाएँ, किन्तु जिस कार्य में योग्य न हो उस कार्य में

---

110. कोष्टक में दी गई संख्या मूल ग्रन्थ के श्लोक-क्रम को सूचित करती है।

111. यदि गाँव में मन्दिर न हो तो अपने घरमन्दिर में आरती, अष्टकगान, नाम-संकीर्तन आदि करें।

उसको न लगाएँ। (66)

13. अपने सर्व परिचारकों का अपने सामर्थ्य अनुसार अन्न-वस्त्रादि के द्वारा यथायोग्य पोषण करें। (67)

14. अपना काम करनेवाले मजदूरों को जितना धन अथवा धान्य देने का कहा हो उतना ही दें, परंतु उससे कम कभी न दें। (152)

15. जो मनुष्य जिस प्रकार के गुणों से सम्पन्न हो, उसको उसी प्रकार के वचन से देशकाल के अनुसार सम्बोधन करें, किन्तु उससे अन्य प्रकार से सम्बोधन न करें। (68)

16. जिस व्यक्ति का जिस प्रकार से सम्मान करना उचित हो, उस प्रकार सम्मान करें किन्तु समदृष्टि से इस मर्यादा का उल्लंघन न करें। (75)

17. विनययुक्त हमारा आश्रित भक्तगण गुरु, राजा, वयोवृद्ध, त्यागी, विद्वान, तपस्वी आदि के आने पर बैठक से उठकर उनका सम्मान करें। (69)

18. हमारे आश्रित गृहस्थ माता, पिता, गुरु और रोगी मनुष्य की सेवा जीवन पर्यन्त यथाशक्ति करें। (139)

19. अतिथियों की भी सेवा-सम्भावना अन्नादि पदार्थों से यथाशक्ति करें। (138)

20. बिना विचार किए शीघ्रता से कोई काम न करें परन्तु धार्मिक कार्य तो बिना विचार शीघ्रता से ही करें। (36)

21. हमने जो विद्या पढ़ी हो, वह अन्य को अवश्य पढ़ाएँ। (36)

22. अपनी आमदनी के अनुसार ही सर्वदा खर्च करें, परंतु जो आमदनी से अधिक खर्च करते हैं, उनको अधिक कष्ट होता हैं। (145)

23. अपने पुत्र-मित्रादि के साथ भी भूमि तथा धन की ले-बेच का व्यवहार साक्षी के सहित लेख किये बिना कभी न करें। (143)

24. अपने या अन्य के विवाह सम्बंधी कार्य में देने योग्य धन, साक्षी सहित लेख के बिना केवल वचनमात्र से न दें। (144)

25. अपने सामर्थ्य के अनुसार दीनजनों की सहायता करें। (83)

26. जिस गृहस्थ के घर में पशु हो वह अपने सामर्थ्य के अनुसार

घासचारा आदि का संग्रह करें। (141)

27. यदि आपसे पशुओं की सेवा हो सके तो पशुओं को रखें और यदि सम्भावना न हो तो न रखें। (142)
28. विद्यादान सबसे बड़ा दान है, इसलिए सद्‌विद्या का प्रवर्तन करें। (132)
29. चोर, पापी, व्यसनी, पाखण्डी, कामी एवं जादू-टोना करके लोगों को ठगनेवाले (तान्त्रिक तथा ओझाओं) छः प्रकार के मनुष्य का संग कभी भी न करें। (27)
30. भक्ति और ज्ञान के उपदेशों का आलम्बन लेकर स्त्री, धन तथा रसास्वाद को चाहनेवाला व्यक्ति पापाचरण करता है, उसका संग न करें। (28)
31. व्यसन का त्याग करें। भाँग आदिक मादक पदार्थों का सेवन न करें। (18)
32. ग्यारह प्रकार का मद्य और तीन प्रकार की सुरा का नैवेद्य देवताओं को चढ़ाया गया हो फिर भी उसे कभी न पीयें। (15)
33. जिस देवता को मदिरा और मांस का नैवेद्य किया जाता हो तथा जिस देवता के सामने बकरे आदि जीवों की हिंसा की जाती हो उस देवता का नैवेद्य (प्रसादरूप में भी) न लें। (22)
34. बिना छाना जल तथा दूध न पीयें और जिस जल में सूक्ष्म जन्तु पड़े हों उसमें स्नान आदि क्रिया न करें। (30)
35. प्याज, लहसुन इत्यादि पदार्थ किसी प्रकार से न खाएँ। (186)
36. लोक और शास्त्रों द्वारा मल-मूत्रार्थ निषिद्ध स्थानों (जैसे कि देवालय, नदी, तालाब का तट, सड़क, बोया हुआ खेत, फुलवारी, और वृक्ष की छाया आदि) में कभी भी मलमूत्र न करें और थूकें नहीं। (32)
37. हमारे गृहस्थ सत्संगी अपनी आय के अनुसार उद्योग करने से प्राप्त अन्न-धन आदि का दसवाँ अंश भगवान को अर्पण करें और यदि कोई आर्थिक रूप से दुर्बल हो, तो बीसवाँ अंश अर्पण करें। (147)
38. अपने व्यवहार के लिए मन्दिर से पात्र, आभूषण, वस्त्र आदि माँगकर न लाएँ। (150)

39. भगवान, गुरु तथा साधुओं के दर्शन के लिए जाते समय मार्ग में पराया अन्न न खाएँ क्योंकि पराया अन्न अपने पुण्य को छीननेवाला होता है। (151)
40. व्यभिचार कभी न करें। (18)
41. हमारे आश्रित पुरुष अपने निकट सम्बंध से रहित स्त्रियों का स्पर्श न करें। (135)
42. गृहस्थ सत्संगी अपनी युवावस्थायुक्त माता, बहन और पुत्री के साथ भी आपत्काल के बिना, निर्जन एकान्त स्थान में कभी न रहें। (136)
43. हमारे सत्संगी पुरुष कभी भी स्त्री के मुख से ज्ञानवार्ता न सुनें तथा स्त्रियों के साथ विवाद न करें। (34)
44. हमारे आश्रित सधवा स्त्रियाँ अपना पति अन्ध हो, रोगी हो, दरिद्र हो, नपुंसक हो तो भी ईश्वर की भाँति उसकी सेवा करें, परन्तु उसे दुर्वचन न कहें। (159)
45. भगवान की नव प्रकार की भक्ति के बिना व्यर्थ काल व्यतीत न करें। निरन्तर भक्ति करते हुए समय बितायें। (193)
46. साधु और नैष्ठिक ब्रह्मचारी दुर्जनों की दी हुई गाली तथा उनसे किये हुए ताड़न को सर्वदा सहन करें, किन्तु उनको गाली न दें और ताड़न न करें, इतना ही नहीं, उनके हित का चिन्तन करें, किन्तु उनका बुरा कभी न सोचें। (201)
47. हमारे सभी भक्तजन प्रतिदिन सायंकाल भगवान के मन्दिर में जायें और वहाँ उच्च स्वर से कीर्तन करें। (63)
48. किसी समय जाने-अनजाने में बड़ा या छोटा पाप हो जाय तो अपनी शक्ति के अनुसार उस पाप का प्रायश्चित करें। (92)
49. हमारे सभी भक्तजन द्वारिका आदि तीर्थों की यात्रा सामर्थ्यानुसार यथाविधि करें। (83)
50. संस्कृत भाषा एवं हिन्दी, गुजराती आदि प्राकृत भाषाओं के धर्म सम्बंधी ग्रंथों का अभ्यास बुद्धि के अनुसार करें। (65)
51. हमारे भक्तजन चातुर्मास के समय विशेष नियम ग्रहण करें। चातुर्मास

के नियम इस प्रकार हैं : भगवान की कथा का श्रवण, कथा वाचन, भगवान का गुण-कीर्तन, षोडषोपचार से भगवान की महापूजा अथवा भगवान के मन्त्र का जाप, स्तोत्रपाठ, भगवान की प्रदक्षिणा तथा भगवान को साष्टांग दंडवत् प्रणाम, ये आठ प्रकार के नियमों में से कम से कम एक नियम का तो चातुर्मास पर्यन्त विशेषरूप से भक्तियुक्त अनुसरण करें। जो असमर्थ हो वह केवल चार माह में केवल श्रावण मास में ही विशेष नियम का धारण करें। (76, 77, 78)

52. देवता, तीर्थ, विप्र, पतिव्रता स्त्री, साधु एवं वेदों की निन्दा कभी न करें और न सुनें। (21)
53. यदि कभी भी भूतप्रेतादि का उपद्रव हो तो अन्य क्षुद्र देवताओं के स्तोत्र और मन्त्र का जाप छोड़कर स्वामिनारायण महामन्त्र का जाप करें। (85)
54. रास्ते में शिवालय आदि देव-मन्दिरों को देखकर आदर से नमस्कार करें और आदरपूर्वक देव का दर्शन करें। (23)
55. विष्णु, शिव, पार्वती, गणपति तथा सूर्य इन पाँच देवताओं को पूज्यभाव से मानें। (84)
56. चार वेद, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत पुराण, महाभारत में विष्णुसहस्रनाम, श्रीमद्भगवद् गीता तथा विदुरनीति, स्कंदपुराण में श्री वैष्णव खंड का श्री वासुदेव माहात्म्य, धर्मशास्त्र के अंतर्गत याज्ञवल्क्य स्मृति, ये आठ सत्शास्त्र हमारे इष्ट (प्रिय) हैं। विद्वान इन शास्त्रों को पढ़ें और इनकी कथा करें। (93, 94)
57. परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही परमेश्वर हैं, वे भगवान ही हमारे इष्टदेव हैं, और अपने उपास्य हैं और सर्व अवतारों के कारण हैं। (108)
58. पृथ्वी के मनुष्य सर्वथा उस भगवान की ही भक्ति करें। इसके सिवा दूसरा कोई साधन कल्याणकारी नहीं है, ऐसा समझें। (113)
59. भगवान की भक्ति और सत्संग के बिना तो विद्वानों का भी अधःपतन होता है। (114)

60. विद्या आदि गुणों से सम्पन्न गुणवानों के गुणों का परमफल तो भगवान के प्रति भक्ति और सत्संग ही है। (114)

61. स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन प्रकार के देहों से विलक्षण अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानकर ही सर्वदा परब्रह्म की भक्ति करें। (116)

आज संसार के लाखों घर ऐसे हैं, जहाँ इस 'पत्री' का पाठ बड़े आदर के साथ किया जाता है। इतना ही नहीं, इसमें दिए गए सदाचार-सूत्रों को लोगों ने अपनी जीवन-शैली ही बना लिया है। सद्धर्मरक्षक भगवान स्वामिनरायण की परम भगवत्ता का यह भी एक उत्तम साक्ष्य ही है।

११

स्वामिनारायणीय तत्त्वज्ञान

भारतीय तत्त्वदर्शन विश्व के दर्शनों में सर्वोच्च है। परब्रह्म की सर्वोपरिता के विषय में हम पूर्णत: नि:संशय हैं। यह सिद्धान्त हमारे दर्शनों ने भी बिना किसी विवाद के स्वीकार्य किया ही है। परन्तु आत्मा का कल्याण, जीवात्मा का मोक्ष, माया से ऊपर उठने की भूमिका आदि के विषय में हर सम्प्रदाय का अपना अलग-अलग अभिप्राय, अपनी विशिष्ट विचारधारा है।

सम्प्रदाय का अर्थ स्पष्ट है : *सम्प्रदायो गुरुक्रम:।*

अर्थात् गुरुओं की परम्परा के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए विशेष तत्त्वज्ञान की धारा ही सम्प्रदाय है।

स्वामिनारायण 'सम्प्रदाय' कहलाता है, उसका कारण यह है कि इस सम्प्रदाय के पास अपना विशिष्ट तत्त्वदर्शन है।

वन-विचरण के समय पूरे भारत के अनेक तीर्थों में घूमते हुए भगवान स्वामिनारायण केवल पाँच प्रश्न पूछते रहते थे, 'जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म का स्वरूप क्या है?'

इन पाँचों तत्त्वों के लक्षणों का भेद बताना न किसी से सम्भव हुआ था, न किसी के अनुभव का वह विषय था। लोज गाँव में स्वामी रामानन्दजी के शिष्य स्वामी मुक्तानन्दजी ने इन पाँचों के उत्तर दिए, तो श्रीहरि अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और आश्रम में ही निवास करने का निर्णय ले लिया।

इस प्रसंग से यही स्पष्ट होता है, कि भगवान स्वामिनारायण ने इन पाँच तत्त्वों को स्वीकार किया था और पाँचों तत्त्व स्वरूप, स्वभाव और गुणों से वास्तविक, स्वाभाविक तथा परमार्थिक सत्य तत्त्व हैं, नित्य हैं।

ये तत्त्व केवल भ्रमजनित, काल्पनिक या व्यावहारिक सत् तत्त्व नहीं हैं। इतना ही नहीं ये सब स्वरूप की दृष्टि से तथा गुण की दृष्टि से एक दूसरे से बिलकुल भिन्न तत्त्व हैं, भले ही उनके स्वरूप-स्वभाव या गुणों में थोड़ा-बहुत साम्य या साधर्म्य दिखाई देता हो, पाँचों का पूर्ण ऐक्य या पूर्ण अद्वैत कदापि सम्भव नहीं है!

अपने सिद्धान्त-ग्रन्थ 'वचनामृत' में उन्होंने कहा भी है, 'वेद, पुराण, इतिहास तथा स्मृति - आदि सर्व शास्त्रों से हमने यही सिद्धान्त निकाला है, कि जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म तथा परब्रह्म यह पाँच भेद अनादि है!' (ग.प्र. 7, ग.अं. 10)

जीव तथा ईश्वर की संख्या अनन्त है! फिर भी वे अनादि, अच्छेद्य, अभेद्य, मायावेष्टित तथा कर्मफल को भोगनेवाले होते हैं। इनमें ईश्वरों का सामर्थ्य अधिक होता है। वे भगवान पुरुषोत्तम के ऐश्वर्य-अंश से विभूषित होते हैं, परन्तु जगत की हर अवस्था में - सर्जन, स्थिति तथा प्रलय में ये दोनों बद्ध अवस्था में ही होते हैं।

भगवान स्वामिनारायण कहते हैं, कि ये दोनों (तत्त्व) प्रलय की आत्यन्तिक अवस्था में माया के गर्भ में विलीन रहते हैं और वही माया अक्षरब्रह्म के तेज में लीन हो जाती है। फिर भी जीवों तथा ईश्वरों का अपना व्यक्तित्व एवं अस्तित्व न तो मिटता है, न बाधित होता है।

जीव तथा ईश्वर साधना द्वारा मोक्षपद को प्राप्त कर सकते हैं, और मोक्षप्राप्ति के बाद वह 'मुक्त' बनता है, तो उन्हें 'अक्षरमुक्त' संज्ञा भी दी जाती है। जब जीव या ईश्वर 'मुक्त' होते हैं, तो वे 'अक्षररूप' होते हैं। न

कि स्वयं अक्षरब्रह्म हो जाते हैं।

अद्वैत मतावलम्बियों की मुख्य मान्यता को दो दृष्टान्तों से समझाया जाता है : मुक्ति अवस्था में जीव प्रकाश में इस प्रकार मिल जाता है, जिस प्रकार तेज, तेज में विलीन हो जाता है। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती है, उसी प्रकार जीव परब्रह्म के तेज में विलीन हो जाता है। इस मान्यता को श्रीहरि ने अस्वीकार कर दिया। मुक्ति अवस्था में जीव तथा ईश्वर परम तेज में मिलकर उसी में विलीन हो जाते हैं, यह सिद्धान्त श्रीहरि को कभी स्वीकार नहीं है।

क्योंकि ऐसी मान्यता के रहते मोक्ष के बाद न जीव का अलग व्यक्तित्व या अस्तित्व रहता है, न ईश्वर का!

श्रीहरि ने तो उसीको 'मुक्ति' मानी है कि जिसमें जीवदशा या ईश्वरदशा से ऊपर उठकर 'अक्षरमुक्त' बना हुआ मोक्षभागी परब्रह्म के अक्षरधाम में दिव्य शरीर को धारण करते हुए, निरन्तर पुरुषोत्तम नारायण की सेवा में स्वामी-सेवकभाव से रहता है।

परब्रह्म इन चारों अनादि तत्त्वों के शरीरी हैं, लेकिन उन सभी तत्त्वों, उनके गुणों, सामर्थ्य, ऐश्वर्य तथा परम सत्ता की दृष्टि से अनन्त गुना सर्वोत्तम है, विलक्षण है, यह भेद तो उतना ही सत्य तथा नित्य रहता है।

जगत्

भगवान स्वामिनारायण के अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है, अपितु सत्य है। केवलाद्वैत मत जिसको 'आभासी, मिथ्या तथा अविद्याजन्य प्रपंच' कहता है, उस जगत् को श्रीहरि ने वास्तविक, स्वाभाविक और पारमार्थिक अस्तित्व कहा है।

जीव

परब्रह्म, अक्षरब्रह्म, ईश्वर तथा माया से भिन्न, अनादि, वास्तविक, पारमार्थिक तथा त्रिकालाबाधित यह सत् तत्त्व है। उसकी न तो उत्पत्ति होती है, न ही उसका विनाश होता है। ऐसा यह जीव अज, अजर, अमर, अविनाशी, नित्य तत्त्व है।

स्वरूप एवं स्वभाव से यह शुद्ध, अमायिक, सुखरूप, गुणातीत, निरवयव तथा अच्छेद्यादि लक्षणों से युक्त है। संख्या की दृष्टि से वे अनन्त और अपार हैं। पूर्णतः परब्रह्म के अधीन है, तथा परब्रह्म उसके शरीरी है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीन इनके देह हैं, सत्त्व-रजस्-तमस् तीन इनके गुण हैं, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीन इनकी अवस्थाएँ हैं। भले ही इन सबसे भिन्न यह चैतन्य तत्त्व है, किन्तु अनादि काल से माया के अज्ञान से वेष्टित होने से इसको तीन गुण, अवस्था तथा देह की विकृतियों का अनुभव होता रहता है।

उसका स्वरूप अणुवत् सूक्ष्म है, हृदय में उसका निवास है, किन्तु ज्ञानशक्ति से नख से शिखा पर्यन्त पूरे शरीर में व्याप्त है।

ईश्वर

यह व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से कल्पित कोई औपाधिक तत्त्व नहीं है। यह तो अनादि, अनन्त तत्त्व है। न इसकी उत्पत्ति है, न इसका विनाश। यह भी अन्य चारों तत्त्वों की तरह वास्तविक, स्वाभाविक एवं पारमार्थिक तत्त्व है। ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति या प्रलय अवस्था में अथवा ईश्वर की अपनी बद्ध या मुक्त स्थिति में भी ईश्वर के अस्तित्व का नाश नहीं होता। ईश्वरों की संख्या अनेक है, परन्तु उनके ऐश्वर्य में तारतम्य है।

सृष्टि के प्रलयकाल में वे अपने-अपने अव्याकृत-अनादि मायारूप देह से सम्बद्ध माया में विलीन होते हैं, फिर भगवदीच्छा के अनुसार जगत के सृजन आदिक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। जब तक ईश्वर माया से मुक्त नहीं होते, जगत् की उत्पत्ति आदिक कार्यों में भगवान की इच्छा के अनुसार लगे रहते हैं।

अक्षरब्रह्म तथा परब्रह्म के साक्षात् सम्बंध द्वारा ईश्वर माया के भावों से मुक्त होते हैं, तब अक्षर का साधर्म्य पाकर ब्रह्मधाम में अक्षरमुक्त होकर पुरुषोत्तम नारायण के सान्निध्य में उन्हीं के दर्शन-सुख में निमग्न बनकर रहते हैं। इस प्रकार ईश्वर का व्यक्तिगत अस्तित्व तथा व्यक्तित्व तो किसी भी अवस्था में अनादि, अनन्त तथा नित्य ही रहता है।

स्वरूप और स्वभाव से तो प्रत्येक ईश्वर शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तारूप, ज्ञानरूप, सुखरूप, अमायिक, त्रिविध गुणों से परे, सच्चिदानन्द रूप ही है परन्तु महामाया से वेष्टित होने के कारण उन्हें अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं होता। माया के भाव से मुक्त होने पर ही वे अपने स्वरूप की यथार्थ अनुभूति कर पाते हैं। जीवों तथा ईश्वरों के बीच भले ही मायावेष्टित होने के कारण कोई भेद न दिखाई देता हो, परन्तु दोनों के बीच जुगनू तथा सूर्य के समान भेद होता है। ईश्वर की सत्ता, सामर्थी, देह, आयुष्य तथा ज्ञान जीवों की अपेक्षा अनन्तगुना विशेष होता है। अत: वे जीवों से भिन्न, स्वतन्त्र तथा परे हैं।

ईश्वरों में विद्यमान सामर्थ्य, सर्व ऐश्वर्य, सर्व कर्तृत्व तथा सर्वज्ञत्वादि सभी गुण परब्रह्म के अधीन हैं, वे अक्षरब्रह्म तथा परब्रह्म से अत्यन्त असमर्थ हैं।

ब्रह्मा से लेकर प्रधान पुरुष तक हर किसी को ईश्वर कोटि में गिना गया है।

माया

विस्मयकारी तथा चित्र-विचित्र सृष्टि माया से उत्पन्न होती हैं, अत: इसे महामाया अथवा मूल माया कहा जाता है। ज्ञान-विरोधी होने से इसे अविद्या भी कहा जाता है। प्रधान आदिक सभी जड़तत्त्वों का मूल कारण यही है। अत: इसे मूल प्रकृति भी कहा जाता है। वच. ग.प्र. 12 में इसके लक्षण बताते हुए श्रीहरि ने कहा है कि माया अर्थात् जो प्रकृति है, वह त्रिगुणात्मक है, जड़-चिदात्मक है, नित्य है, निर्विशेष है तथा महदादिक समग्र तत्त्व तथा जीवमात्र का क्षेत्र है, ऐसी माया भगवान की शक्ति है।

परब्रह्म

स्वामिनारायणीय तत्त्वपंचक के अनुसार परब्रह्म एक तथा अद्वितीय है। 'मुक्ति अवस्था' में भी कोई भगवान के समान तो हो ही नहीं सकता। चाहे वह अक्षरब्रह्म भी क्यों न हो! (वच. ग.अं. 39)

वे सगुण भी हैं निर्गुण भी। कल्याणकारी गुणों के रहते हुए वे सगुण हैं,

तो मायिक विकारों से रहित होने से निर्गुण। वे चारों अनादि तत्त्वों के नियन्ता भी हैं। उनमें अन्तर्यामी रूप से वे निवास करते हैं, ऐसे स्वरूप को परब्रह्म का अन्वय स्वरूप कहते हैं। जीव, ईश्वर एवं अक्षर से परे, जो अक्षरातीत उनका स्वरूप है, वह उनका व्यतिरेक स्वरूप है। वही **कर्ता** है। और कल्याण का परम कारण है। (वच. का. 8, सा. 5, ग.प्र. 72, का. 10)

वही इस जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। भगवान स्वामिनारायण ने परब्रह्म को सदा दिव्य एवं **साकार** ही कहा है। जो ऐसा नहीं मानता, तो उसका 'ध्यान तथा उपासना' ब्रह्म सुषुप्ति में लीन हो जाती है। (ग.प्र. 64)

ऐसे परमात्मा ही **सर्वोपरि** हैं, सर्व अवतारों के अवतारी हैं। प्रत्यक्ष हैं, और उनके प्रत्यक्ष रूप को पाकर उसकी महिमा की यथार्थ पहचानकर उनकी शरणागति, भक्ति तथा उपासना करनेवाले को ही ज्ञानी कहा है। जैसे :

'इन्द्रियाँ, अन्त:करण तथा अनुभव – इन तीनों से परब्रह्म को प्रत्यक्ष समझे वही पूर्ण ज्ञानी है।' (वच. लो. 7)

इस धरातल पर वे हमेशा अपने साक्षात्कारवाले तथा गुणातीत सन्त के द्वारा निरन्तर **प्रकट** रहते हैं, यह सन्त है स्वयं अक्षरब्रह्म।

बिना परब्रह्म की उपासना के, ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी का कल्याण होना भी अति कठिन है। उनके स्वरूप की यथार्थ महिमा सत्पुरुष के द्वारा ही समझी जाती है, किन्तु केवल बुद्धिबल या सद्ग्रन्थों के श्रवण से वह सम्भव नहीं होता। (वच. ग. प्र. 57, पं. 7, ग. म. 13)

परब्रह्म सदैव और सर्वथा अच्युत, अव्यय, निरंश, अविकारी, जगतकर्ता, धर्ता, भर्ता, नियन्ता तथा शास्ता है। वे सभी के धारक, पालक, पोषक, प्रेरक, रक्षक, उद्धारक, शासक एवं नियामक हैं। वे ही सर्व शक्तिमान, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सत्य संकल्प तथा सर्वसाक्षी हैं, निर्दोष, दिव्य, असंगी, निर्विकारी, माया से परे, पूर्णकाम, सर्वकर्मफल-प्रदाता तथा सभी के आश्रय स्थान भी हैं!

आत्म-साधना की समाप्ति पर जीवन-मुक्ति या विदेह-मुक्ति में वे ही परम प्राप्य, उपेय तथा साध्य स्वरूप हैं।

उनको पाने का उपाय भी वे स्वयं हैं। बिना उनकी करुणा तथा कृपा

के, कोई उन्हें पा नहीं सकता।

अक्षरधाम में सदैव विराजमान परब्रह्म, पुरुषोत्तम महाआनन्दमय मूर्ति है, वह मायिक इन्द्रिय-अन्तःकरणों से अगोचर है, स्वयं साक्षात् इस धरातल पर करुणा करते हुए भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने तथा विविध कार्य करने के लिए अवतरित होते हैं।

एकबार श्रीहरि ने अपने सन्तों के समक्ष प्रश्न किया, 'हमने दूसरे अवतारों के समान न तो गोवर्धन पर्वत उठाया है और न ही रावण जैसे राक्षस को मार गिराया है, फिर भी आप हमें भगवान क्यों कहते हैं ?'

सन्तों ने उनको अद्‌भुत उत्तर दिया था जो कि हमें पुरुषोत्तम नारायण के असाधारण लक्षणों को दिखाता है, और सभी परमहंस पूरी सोच-समझ के साथ श्रीहरि की भगवत्‌प्रतिभा को अपने हृदय में किस प्रकार समझते थे, उसका विवरण भी इसी उत्तर में मिलता है।

सन्तों ने कहा था, 'महाराज, राम ने रावण को मार गिराया, उससे पहले काम और अहंकार से उसकी हत्या हो ही चुकी थी। ऐसे काम, क्रोध तथा लोभ के समान हमारे अन्तःशत्रुओं को आपने हमेशा के लिए मिटा दिया है। हमारे अनादि अज्ञान का नाश हुआ है। इसी कारण हम आपको पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण कहते हैं। भले ही आपने समुद्र पर सेतु का निर्माण न किया हो। आपने इस भवसागर से अक्षरधाम तक ब्रह्ममार्ग का पथ प्रशस्त कर दिया है। पाप के पर्वतों को मिटाकर हमारे चित्त को शुद्ध किया है। बस, यही कारण है कि आप हमारे भगवान है और हम आपके शिष्य।'

अर्थात् वही है अक्षरधाम के अधिपति, सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्व, भगवान स्वामिनारायण!

घनश्याम, नीलकंठ ब्रह्मचारी, सहजानन्द स्वामी, श्रीजी महाराज, श्रीहरि, महाराज, या भगवान स्वामिनारायण तो उनके विविध नाम या सम्बोधन हैं, परन्तु तत्त्वतः तो वे ही परमात्मा हैं! परब्रह्म हैं! जो आत्यन्तिक कल्याण की धारा इस धरातल पर बहती रहे, उसी कारण वे अपने साक्षात्कार वाले गुणातीत अक्षरब्रह्म सत्पुरुष के द्वारा हमेशा के लिए इस धरती पर प्रकट विद्यमान रहते हैं।

अक्षरब्रह्म

जो मुमुक्षु परब्रह्म को पाना चाहता है, उसे अक्षरब्रह्म की उपेक्षा करना संभव ही नहीं है। बिना ब्रह्म के साथ एकता कोई जीव ब्रह्मरूप हो नहीं सकता और बिना ब्रह्मरूप हुआ साधक परब्रह्म को पा नहीं सकता। मोक्ष के बाद भी ब्रह्म ही प्रत्येक 'अक्षरमुक्त' का आश्रय धाम है, इसी कारण किसी भी साधक के लिए 'ब्रह्म' तत्त्व की उपेक्षा उचित नहीं है।

स्वामिनारायणीय उपासना पद्धति में अक्षरब्रह्म का स्थान विशिष्ट है। मुक्ति में हर मुमुक्षु का अन्तिम ध्येय है : अक्षरब्रह्म के भाव को प्राप्त कर, अक्षरब्रह्म रूप होकर परब्रह्म परमात्मा श्री स्वामिनारायण भगवान की सेवा करना।

यहाँ हम 'अक्षरब्रह्म' तत्त्व को समझंने का प्रयास करेंगे।

अक्षरब्रह्म, ब्रह्म, अक्षरधाम, चिदाकाश, ब्रह्ममहोल, चैतन्यधाम ये सब एक ही तत्त्व के विभिन्न नाम हैं। ब्रह्म हमेशा परब्रह्म के अधीन तथा परब्रह्म से व्याप्त तत्त्व है। वह परब्रह्म के तेज से भिन्न है, निर्विकार और निरंश है। (वच. ग. म. 3) वह अनादि, अनन्त, त्रिकालाबाधित, नित्य, शाश्वत, वास्तविक, स्वाभाविक, पारमार्थिक और माया से निर्लेप तत्त्व है।

स्वरूप और स्वभाव से वह सच्चिदानन्दमय है। जीव, ईश्वर और माया से परे हैं, परन्तु परब्रह्म के अधीन हैं। उपर्युक्त तीनों तत्त्वों में तथा माया के अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रूप कार्यों में उनका व्याप निरन्तर है, वही उसका अन्वय स्वरूप है। कोटि ब्रह्माण्डों का आधार, नियन्ता, दृष्टा तथा शास्ता वही है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से नहीं! क्योंकि उनकी अपार शक्ति, ऐश्वर्य, सामर्थ्य, वीर्य, तेज तथा ज्ञान आदिक अनन्त गुण परब्रह्म के अधीन है।

वह भी परब्रह्म की तरह ही 'सगुण' है, तथा उन्हीं की तरह 'निर्गुण' भी है।

कल्याणकारी गुणों के रहते वह सगुण है, तथा अत्यन्त विराट् है, परब्रह्म के धामरूप हैं तथा माया के गुणों से रहित उसका निर्गुण स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है, जो कि चिदाकाश रूप से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के

अन्दर तथा बाहर व्याप्त है। यही अक्षरब्रह्म धामरूप से परब्रह्म तथा अनन्त कोटि मुक्तों को धारण कर रहा है तथा जो उसका व्यतिरेक स्वरूप है, वह साकार है। परब्रह्म के सेवक के रूप में है तथा अनन्त जीवों के कल्याण के लिए वही पृथ्वी पर मनुष्यरूप धारण करके प्रकट होते हैं। वह भी एक और अद्वितीय है तथा उत्पत्ति एवं विनाश से रहित है!

इस प्रकार स्पष्ट होता है, कि अक्षरब्रह्म साकार है – परब्रह्म के सेवक के रूप में, तथा निराकार है – धामरूप से, चिदाकाश के रूप में।

मुण्डकोपनिषद् कहता है : *'अक्षरात् परतः परः'* (2/1/2) अर्थात् प्रकृतिपुरुष से परे अक्षर है, और अक्षर से परे पुरुषोत्तम है! गीताजी में श्रीकृष्ण कहते हैं, *'यस्माक्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः'* (15/18) अर्थात् परब्रह्म तो अक्षरब्रह्म से परे हैं!

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा था, *'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'* (3/8/9) अर्थात् हे गार्गी! यह सब प्रकृतिपुरुष तक अक्षरब्रह्म के प्रशासन से चलता है! अक्षर का प्रशासन पुरुषोत्तमनारायण से अनुशासित होता है। वह स्वतन्त्र नहीं है!

'अक्षरं परमं ब्रह्म!' [112] जो स्वयं प्रकृति पुरुष से परे रहता है, वह ब्रह्म है। बिना अक्षरब्रह्म के ज्ञान को मृत्यु-प्राप्त व्यक्ति 'कृपणः' है, [113] हीन है। किन्तु अक्षरब्रह्म के ज्ञान के बाद जिसकी मृत्यु होती है, वही 'ब्राह्मण' है। तथा वही *'परब्रह्मानुभव सम्पन्नो भवति'* – परब्रह्म के अनुभवों से सम्पन्न होता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार अक्षरब्रह्म 'सर्वकारण का कारण है, तथा भगवान का धाम' भी वही है। (3 – 11 – 40, 40)

मोक्ष मार्ग में अक्षरब्रह्म की अनिवार्यता

'मोक्ष' का अर्थ है वासना, स्वभाव, प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होना, ब्रह्मरूप होना, देहभाव से परे होकर परब्रह्म की भक्ति में लगे रहना।

'ब्रह्मरूप' होने में 'ब्रह्म' का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है, श्रीमद्

---

112. श्रीमद् भगवद् गीता : ८/३।

113. बृहदारण्यक उपनिषद्।

भागवत कहता है, '*धाम्नास्वेन सदा निरस्तकुहकं, सत्यं परं धीमहि!'* अर्थात् मेरे स्वरूप के समान जो ब्रह्म है, धाम है उसके द्वारा माया का सर्गरूप कपट जिन्होंने निकाल दिया है, ऐसा परम सत्य भगवान का स्वरूप है!'[114]

भगवान स्वामिनारायण ने भी ब्रह्मरूप होने के लिए मनन के द्वारा ब्रह्म का संग करने का ही उपाय बताया है। वचनामृत में कहा है कि ब्रह्म से परब्रह्म पुरुषोत्तमनारायण भिन्न है तथा उस ब्रह्म के भी कारण, आधार तथा प्रेरक है। ऐसा समझकर उस ब्रह्म के साथ अपनी जीवात्मा का तादात्म्य स्थापित करके परब्रह्म की स्वामी सेवक भाव से उपासना करनी चाहिए। यही एक परब्रह्म को पाने का निर्विघ्न मार्ग है! (वच. ग.म. 31, ग.म. 3)

क्या इस मोक्ष-सिद्धान्त को उपनिषदों का समर्थन मिलता है? इस प्रश्न का उत्तर है, भगवान स्वामिनारायण ने भारतीय तत्त्वदर्शन का जो निचोड़ अपने सिद्धान्त में बताया है, पूर्णतः वैदिक है। अक्षरपुरुषोत्तम उपासना का रहस्य समझाते हुए कठोपनिषद् में कहा है कि[115] अक्षरब्रह्म के ज्ञान के बाद ही ब्रह्मलोक प्राप्त होता है तथा मोक्ष के लिए यही श्रेष्ठ आलम्बन है। इसी उपनिषद् में अक्षरब्रह्म को परब्रह्म की प्राप्ति का सेतु बताया गया है![116] तथा तैतिरीय श्रुति ने भी कहा है[117] कि 'जो ब्रह्म को पाता है, वही परब्रह्म तक पहुँचता हैं, 'गीता में भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं कि जो ब्रह्मरूप होता है, वही मेरी भक्ति को प्राप्त होता है![118]

उपर्युक्त विधानों से स्पष्ट होता है कि परब्रह्म की सेवा-भक्ति की योग्यता के लिए सब से पहले ब्रह्मरूप होना आवश्यक है। ब्रह्मरूप होने के लिए ब्रह्म के साथ प्रत्यक्ष सम्बंध अनिवार्य है।

---

114. श्रीमद्भागवत : १.१.१
115. 'एतद्धेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्' 'एतदालम्बनं श्रेष्ठम्' (कठ. उ. १-२/१६, १७)
116. यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्। (१/३/२)
117. ब्रह्म विदाप्नोति परम् - २/१
118. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा... मद्भक्तिं लभते पराम्। (१८/५४)

इसके लिए ब्रह्म का प्रत्यक्ष होना भी अनिवार्य है और प्रत्येक मुमुक्षुओं के लिए धन्य भाग्य की बात है कि भगवान स्वामिनारायण ने स्वयं कहा है कि : भगवान जब प्रकट होते हैं, तब अक्षरब्रह्म, अक्षरमुक्तों तथा अपने सर्व ऐश्वर्यों को साथ लेकर प्रकट होते हैं![119]

भगवान स्वामिनारायण अक्षरब्रह्म को अपने साथ लेकर पधारे थे। उन्होंने ब्रह्म-परब्रह्म की उपासना का सिद्धान्त बड़े स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है।

'अक्षरपुरुषोत्तम' शब्द में अक्षर का अर्थ है, अक्षरब्रह्म। अर्थात् भगवान के उत्तम भक्त तथा पुरुषोत्तम का अर्थ है स्वयं भगवान नारायण!

'स्वामिनारायण' शब्द में स्वामी का अर्थ है अक्षर तथा नारायण का अर्थ है भगवान नारायण।

इस प्रकार अक्षरपुरुषोत्तम अर्थात् स्वामिनारायण। प्रत्येक मुमुक्षु को अक्षररूप होकर पुरुषोत्तमनारायण की उपासना करनी चाहिए; तभी वह परमपद का अधिकारी बन सकता है, तथा उसे ही भगवान के धाम की प्राप्ति हो सकती है। यह कोई नया अथवा मनगढ़ंत सिद्धान्त नहीं है। भगवान स्वामिनारायण के अनुसार यही सर्वशास्त्रों का साररूप और परम कल्याण के द्वार को खोलने वाला सिद्धान्त है!

'अक्षरपुरुषोत्तम उपासना' का अर्थ यह नहीं है कि अक्षर तथा पुरुषोत्तम दोनों की समानरूप से उपासना करना, किन्तु उसका मतलब है अक्षररूप होकर परब्रह्म के दो चरणों की अर्थात् भगवान के स्वरूप की ही उपासना करना।

जैसे परब्रह्म स्वयं इस पृथ्वी पर सहजानन्द स्वामी के रूप में पधारे, उसी प्रकार अक्षरब्रह्म स्वयं इस धरा पर गुणातीतानन्द स्वामी के रूप में पधारे। स्वयं श्रीहरि ने अनेक अवसर पर गुणातीतानन्द स्वामी की 'अक्षरब्रह्म' के रूप में महिमा अभिव्यक्त की थी। ऐसे 'अक्षरब्रह्म' को ही उन्होंने उत्तम गुरु कहा है तथा *'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि:'* कहकर उन्हीं की शरण में जाने का आदेश स्वीकार करने की आज्ञा दी है।[120]

---

119. वच. ग. प्र. ७१।

120. मुण्डक उपनिषद् : १.२.१२।

वचनामृत में जहाँ-जहाँ 'सत्पुरुष' शब्द का प्रयोग है, सर्वत्र श्रीहरि को 'अक्षरब्रह्म' ही अभिप्रेत है। 'सत्पुरुष' में भगवान हर प्रकार से निवास करके विद्यमान रहते हैं। (वच. ग.अं. 26, 27, अं. 35)

इस वचन के अनुसार तो मुमुक्षु को अक्षरब्रह्म ही 'गुरु' करने के लिए सर्वथा योग्य सिद्ध होते हैं।

यहाँ हमें स्पष्ट होता है कि अक्षरब्रह्म इस धरातल पर सत्पुरुष के रूप में गुरुपद पर गुणातीतानन्द स्वामी के रूप में हमें प्रत्यक्ष मिले थे, जो कि आज उनकी परम्परा में प्रमुखस्वामी महाराज के रूप में हमें मोक्ष-मार्ग पर अभिप्रेरित कर रहे हैं।

'अक्षररूप होकर पुरुषोत्तम की भक्ति करने' के श्रीहरि के सिद्धान्त को आज 'अक्षरपुरुषोत्तम उपासना' के नाम से लोग पहचानते हैं। परन्तु इस उपासना को ग्रन्थों के शब्दजाल से निकालकर मूर्तिमंत स्थान देने का साहस किया था ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज ने![121] पुरुषोत्तम नारायण भगवान श्री सहजानन्द स्वामी के साथ ही उन्होंने कड़े विरोधों के बीच अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी को मूर्तियों की विराट् शिखरबद्ध मन्दिरों के मध्य शिखर के मध्य सिंहासन में प्रतिष्ठा की थी जो कि अध्यात्म विश्व का एक ऐतिहासिक सीमाचिह्न बन गया!

मुक्ति मीमांसा

नित्य, शुद्ध तथा निर्विकार होते हुए भी जीव अज्ञानवशात् माया वेष्टित हो चुका है तथा कामादिक दोषों से रहित होने के बावजूद भी अपने स्वरूप में जड़ता या अज्ञानवश होकर जीव ने विपरीतभावना से मान लिया है कि मैं कामी, क्रोधी आदि दोषों से विकारवान हूँ![122]

इसी प्रकार के अहं-ममत्व से प्रेरित होकर जीव चाहे जैसा कर्म करता है, उन कर्मों के संस्कार जीव के साथ एकरस बनकर घुल जाते हैं। यही है जीव की वासना, प्रकृति तथा स्वभाव।[123]

---

121. सन् 1865 - सन् 1951
122. वच. सा. ११, का. १२
123. वच. ग. अं. २०

पंचविषयों की वासना ही जीव के जन्म-मरण के चक्र में प्रधान निमित्त है। बिना माया से मुक्त हुए जीव को अनन्तकाल तक सृष्टि के चक्र में जन्म-मरण लेना पड़ता है।

जीव को कर्मसंस्कार, वासना, स्वभाव या प्रकृति के बन्धन छूट जाते हैं, तो ऐसी मुक्ति अवस्था में उसे न कोई दु:ख रहता है, न जन्म-मरण का चक्र रहता है! वह स्वयं ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की स्वामी सेवक-भाव से उपासना करता हुआ दिव्य तथा शाश्वत आनन्द को भोगता है। यही मुक्ति है।

यहाँ 'दु:ख का अभाव' मात्र अभिप्रेत नहीं है, अपितु 'ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म का साक्षात्कार होना' अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस मनुष्य देह के रहते हुए भी तीनों अवस्था में जीवात्मा को ब्रह्मरूप देखकर भगवान के स्वरूप की भक्ति का अधिकार पाना - यह श्रीहरि के मतानुसार जीवन्मुक्ति है, तथा इसी प्रकार की प्राप्ति मृत्यु के बाद मिलती है, यह उनके मतानुसार विदेह मुक्ति है!

इस प्रकार भगवान स्वामिनारायण द्वारा दिया हुआ तत्त्वदर्शन केवल कोरा पांडित्य नहीं अपितु अनुभूति का नवनीत है जो हमारी आत्मा को धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति जैसे सद्‌गुणों से परिपुष्ट करता है तथा भगवत् साक्षात्कार की अनुभूति दिलाता है।

❀ ❀ ❀

१२

स्वामिनारायणीय साधना मार्ग

मोक्ष की दशा सिद्धदशा होती है। किसी भी सिद्धि को पाने के लिए 'साधना' अनिवार्य मार्ग होता है और अध्यात्म की सिद्धि के लिए भारतवर्ष में विविध साधना-मार्गों का विस्तार हो चुका है।

इन मार्गों में स्वामिनारायणीय साधना मार्ग मुमुक्षु के लिए परब्रह्म को पाने का सरलतम राजमार्ग है।

इस साधना पथ की दो मुख्य धाराएँ हैं : एक है - स्वधर्मनिष्ठा तथा दूसरी है - स्वरूपनिष्ठा।

स्वधर्मनिष्ठा का अर्थ है, भक्तों को अपने-अपने आश्रम के अनुसार अपने धर्मों का, नियमों का, आदेशों का तथा वचनों का पालन करना। गृहस्थाश्रमियों के नियम-वर्तमान तथा त्यागियों के नियम-वर्तमान को स्वधर्मनिष्ठा में लिया जाता है।

स्वामिनारायण सम्प्रदाय में प्रवेश पाना अत्यन्त सरल है। इतना ही नहीं, संसार की प्रत्येक जाति के प्रत्येक मनुष्य के लिए इस सम्प्रदाय के द्वार खुले हैं।

प्रवेश-रीति

जिस मुमुक्षु को सम्प्रदाय का सदस्य बनना है, उसे सम्प्रदाय के किसी भी मन्दिर में दर्शन करने के बाद वहाँ के वरिष्ठ सन्तों को प्रणिपात करके अपनी अभिलाषा व्यक्त करनी चाहिए। यदि सम्भव हुआ तो सन्त उसे लेकर प्रकट सत्पुरुष-गुरुपद पर बिराजमान प्रमुखस्वामी महाराज के पास वर्तमान दीक्षा ग्रहण करवाएंगे। यदि गुरु का प्रत्यक्ष सान्निध्य सम्भव नहीं हुआ, तो सन्तों द्वारा भी गुरु-आज्ञा से वर्तमान दीक्षा पाई जाती है। यह एक छोटी-सी शास्त्रोक्त विधि है, जिसमें दाहिनी हथेली में थोड़ा-सा प्रासादिक जल देकर हमें एक मन्त्र का उच्चारण करने की आज्ञा दी जाती है, मन्त्र है, '*काल-माया-पापकर्म... ।*' जिसका अर्थ है, हे स्वामिनारायण भगवान, आज से मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप काल, कर्म, माया, पापकर्म, यमदूत आदि से मेरी रक्षा करना। मेरा आपके सिवा अन्य कोई शरण नहीं है।' फिर पानी धरती पर छोड़ने से पहले गुरु अथवा सन्तों के द्वारा दो मुख्य प्रतिज्ञाएँ दी जाती हैं : 1. निर्व्यसनी जीवन जीने तथा 2. तिलक के चिह्न के साथ प्रतिदिन भगवद्पूजा करने की।

मुमुक्षु के लिए यह जीवन-परिवर्तन का अवसर होता है। आज से वह भगवान का शरणार्थी बना है, साधनामार्ग पर कदम रखकर उसने मोक्ष पथ पर चलना प्रारम्भ किया है। अतः इसका सदैव स्मरण रखने के लिए उस मुमुक्षु को भगवान की प्रासादिक दो लड़ी[124] की कंठी पहनाई जाती है। जो तुलसी, रतांजलि या चन्दन के काष्ठ की होती है।

कंठी में एक लड़ी भगवान की शरणागति का प्रतीक है तथा दूसरी भगवान के भक्त जो अक्षरब्रह्म है, उसे अपना स्वरूप समझकर भक्ति करने का प्रतीक है।

कंठी हर पल साधक को अपने उद्देश्य का स्मरण कराती रहती है। इसीके साथ उसे कुल मिलाकर ग्यारह नियमों का पालन करने की आज्ञा दी जाती है। जो 'शिक्षापत्री का संक्षेप-संस्करण' के रूप में भी प्रसिद्ध है :

124. वह दोरा जिसमें काष्ट के छोटे-छोटे मनके पिरोये जाते हैं।

हिंसा न करनी जन्त की, परत्रिया संग को त्याग;
माँस न खावत, मद्य को पीवत नहीं बड़भाग्य!
विधवा को स्पर्शत नहीं, करत न आत्मघात;
चोरी न करनी काहुकी, कलंक न कोई को लगात,
निन्दत नहीं कोई देव को, बिन खपतो नहीं खात;
विमुख जीव के वदन से, कथा सुनी नहीं जात!
एहि धर्म के नियम में, बरतो सब हरि-दास;

इन ग्यारह नियमों में शराब, माँसाहार, चोरी तथा व्यभिचार का पूर्णतः परित्याग, तथा अपने धर्म का पालन करते हुए परधर्म में प्रवेश नहीं करने की जो पाँच प्रतिज्ञा है, उन्हीं को गृहस्थाश्रमियों के मुख्य 'पंचवर्तमान' कहे गए हैं।

साधक 'सत्संगी' या 'हरिभक्त' बनते ही इन नियमों के अनुसार जीवन जीना प्रारम्भ कर देता है।

1. नित्यपूजा

दूसरी साधना है, '*नित्यपूजा*' के रूप में।

प्रतिदिन प्रातःकाल स्नानादिक क्रिया के बाद श्वेत, धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहनकर उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुख रखते हुए 'नित्यपूजा' करना अपने आपमें एक अद्भुत भक्तिकर्म है।[125] इसमें सर्वप्रथम सम्प्रदाय का प्रतीक-तिलक तथा कुमकुम का टीका भाल प्रदेश पर करके दोनों बाहु तथा वक्ष प्रदेश में केवल चन्दन से यह चिह्न करने की आज्ञा है। फिर भगवान स्वामिनारायण, अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी एवं गुरुपरम्परा की मूर्तियों के स्थापन के बाद आत्मचिन्तन एवं मानसीपूजा की जाती हैं।

आत्मचिन्तन में साधक धारणा करता है कि स्वरूपतः मैं आत्मा हूँ। तथा परमात्मा भगवान स्वामिनारायण का दास हूँ। मैं अजर, अमर, नित्य तथा

125. नित्यपूजा का सेट संस्था के प्रत्येक बुकस्टॉल में उपलब्ध होता है। जिसमें भगवान स्वामिनारायण तथा गुरुपरम्परा की मूर्तियाँ, शिक्षापत्री सूक्तिरत्न तथा तिलक चिह्न करने की सामग्री एवं माला तथा गोमुखी आदि साधनों का समावेश होता है।

गुणातीत एवं सच्चिदानन्दमय हूँ। इस दृढ़ता के कारण इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण पर हमारी आत्मा का नियन्त्रण सुदृढ़ होता है। फिर साधक को भगवान की ऋतु के अनुसार मानसीपूजा करनी चाहिए। मन ही मन गद्गद्भाव से प्रभु की स्नेहार्द्र होकर की गई मनोमय पूजा ही मानसीपूजा है।

मानसीपूजा के बाद प्रभुस्मरण के साथ 'स्वामिनारायण' महामन्त्र का स्मरण पाँच या ग्यारह माला के जप के साथ करना चाहिए। फिर एक माला तप के प्रतीक रूप एक पैर पर खड़े रहकर करना एवं प्रदक्षिणा तथा छः दण्डवत् प्रणाम[126] के साथ पुनः मानसीपूजा की समाप्ति करके प्रभु के पास शुभकामना करके प्रार्थना में जुड़ना - यह 'नित्यपूजा' की साधना का नित्यक्रम रहता है।

पढ़ने में यह दैनिक साधना जितनी लम्बी महसूस होती है, वास्तव में ऐसा नहीं है। फिलहाल छोटे-छोटे लाखों बालक भी बड़े उत्साह और भक्तिभाव से इसी रीति के अनुसार 'नित्यपूजा' का आनन्द उठा रहे है। जिसमें लगभग 25 से 30 मिनट का समय मुश्किल से लगता है।

2. व्यसनमुक्त जीवन

साधना के पथ पर चलनेवालों को जीवनशुद्धि, आचारशुद्धि, व्यवहारशुद्धि तथा विचारशुद्धि भी अनिवार्य रूप में सिद्ध करनी होती है। इसके लिए तम्बाकू, गुटखा, पान-मसाला, शराब, सिगरेट, प्याज, लहसुन तथा हींग तक किसी भी वस्तु का सेवन सत्संगी के लिए वर्ज्य है।

3. घर-मन्दिर

प्रत्येक संतसगी के घर में सुन्दर देवस्थान-घरमन्दिर रखकर प्रातःकाल

---

126. भगवान स्वामिनारायण ने नित्य नियम-अनुसार पाँच दण्डवत् प्रणाम करने की आज्ञा दी है. तथा एक दण्डवत् प्रणाम अधिक करने का आदेश भी वचनामृत ग.म. ४० में दिया है। इसका कारण यह है कि कदाचित् अगले दिन किसी भगवान के भक्त की निन्दा हुई हो अथवा अवगुण ग्रहण हुआ हो या द्रोह हो गया हो तो भगवान के साथ क्षमायाचना करने से उस दोष का निवारण होता है।

तथा संध्या समय आरती गान करना, सुबह-शाम नैवेद्य लगाना और परिवार के प्रत्येक सदस्यों को भक्ति के अधिकारी बनाना श्रीहरि का आदेश है।

आरती गान, स्तुति, दण्डवत् प्रणाम, नैवेद्य, एकादशी व्रत इत्यादि भक्तिविधियों से घर का माहौल पूर्णतः दिव्य, प्रेरक और निर्मल बनता है। बच्चे भी हमारी सांस्कृतिक-आध्यात्मिक धरोहर से जुड़े रहते हैं।

4. घर-सत्संग

प्रत्येक सत्संगी को श्रीहरि ने हमेशा के लिए आदेश दिया है कि दिन में कम से कम एकबार तो मन्दिर-दर्शन के लिए जाना ही चाहिए! मन्दिर हमारा आस्था-स्थान है, कर्म-भक्ति और ज्ञान का संगमतीर्थ है। वहाँ जाकर मन स्थिर होता है। फिर रात्रि भोजन के बाद 'घर-सत्संग' का आदेश दैनिक साधना का आखिरी सोपान बनकर घर में ज्ञान और ऐक्य का वातावरण खड़ा कर देता है।

'घर-सत्संग' का अर्थ है परिवार का प्रत्येक सदस्य रात्रि के एक निश्चित समय पर एकत्र होकर बच्चों के साथ संस्कारों की, सत्संग की, भारत के अवतारी पुरुषों की, सम्प्रदाय के भव्य इतिहास की तथा शास्त्रों की कहानियाँ विमर्श के रूप में रखकर उनके व्यक्तित्व का गढ़न करें।

कहा भी है :

जा घर हरिकथा, कीर्तन नाहीं, सन्त नहीं मेहमाना,
ता घर जमड़ा डेरा देवत, साँझ पड़े समशाना!

इस साधना पद्धति में भी केवल 20 मिनट से 30 मिनट का समय कठिनाई से लगता होगा, परन्तु 'घर सत्संग' का असर इतना गहरा होता है, कि हमारे साधना मार्ग की, सत्संग की परम्पराओं की तथा हमारे भव्य भारतीय तथा साम्प्रदायिक इतिहास की नींव बच्चों के कोमल हृदय पर सदा के लिए स्थापित हो जाती है। परिणाम यह होता है कि एक आदर्श परिवार का तथा भावी पीढ़ी की सफलता का सृजन सहज हो जाता है!

5. धर्मदान

गृहस्थाश्रमियों को उपर्युक्त साधना के साथ अपनी मासिक आय से

दसवाँ या बीसवाँ हिस्सा धर्मार्थ दान देने की भी श्रीहरि की आज्ञा है। सम्प्रदाय के विशाल मन्दिरों की सेवा-प्रवृत्तियों में श्रमदान तथा समयदान देना, आज्ञा के अनुसार प्रति सप्ताह रविवार की संध्यासभा में सन्तों के सत्संग का लाभ लेना, प्रतिदिन मन्दिरों में आयोजित प्रातःकथामृत का पान करना हर मुमुक्षु के लिए साधना के विशिष्ट सोपान हैं।

इस प्रकार **सत्संग** और **भक्ति** दो मुख्य साधनाधाराओं में नियमों का आचरण हमें गति तथा शुद्धि देता है, तथा आत्मविकास और परमात्मा के दर्शन की ओर अग्रसर करता है।

❖ ❖ ❖

त्यागियों के लिए भी उपर्युक्त नियमों के साथ-साथ अन्य पंचवर्तमानों का मार्ग स्पष्ट किया गया है।[127]

भगवान स्वामिनारायण ने 'शिक्षापत्री' में सन्तों-त्यागियों के नियम-विवरण में जीवन-शुद्धि का स्पष्ट आदेश दिया है। पवित्र और प्रेरक जीवन ही सन्तों की वास्तविक प्रतिभा है। अतः विविध विद्या में कुशल होते हुए भी निर्व्यसनी और अहंकार-शून्य जीवन जीनेवाले स्वामिनारायणीय सन्त समग्र अध्यात्म-जगत के सितारे हैं, जो लोक-कल्याण की रोशनी से संसार को सौन्दर्यमय बना रहे हैं।

स्वामिनारायणीय सन्त वैष्णवी-दीक्षा अर्थात् भागवती दीक्षा-प्राप्त हैं। वे कभी तम्बाकू, पान-मसाला, गाँजा-भाँग आदि नशीली चीज़ों को छूते भी नहीं। इसके उपरान्त घर-घर, गाँव-गाँव चलकर वे अन्य हज़ारों लोगों को निर्व्यसनी बनाकर सुखी जिन्दगी जीने की प्रेरणा देते हैं।

भगवान स्वामिनारायण ने अपने त्यागी-वृन्द का पहनावा भी अत्यन्त सादगीपूर्ण तथा सौम्य पसन्द किया है। अतः उनके दर्शन से ही बच्चों से लेकर हर व्यक्ति को उनके प्रति आदर एवं सम्मान की भावना प्रकट हो जाती है।

श्रीहरि की आज्ञा के अनुसार मासिक पाँच निर्जल उपवास, चातुर्मास के दौरान तप्तकृच्छ, शिशु, ऋषि, पीपलिका आदि चान्द्रायण व्रत, धारणा

127. सन्तों के पंचवर्तमानों के विषय में प्रकरण ६, पृष्ठ ८७ में विस्तार से चर्चा की गई है।

आदि नियम, सत्संग प्रवृत्तियों में बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ दिन-रात लगातार लगे रहना, प्रफुल्लित हृदय से भक्तिभाव के साथ समाज के आदिवासी वर्ग से लेकर अमेरिका वासियों तक अपने वर्तन की सुगन्ध को पहुँचाना, संगीत, कला, स्थापत्य, साहित्य सर्जन, लोकसम्पर्क तथा बाल-युवापीढ़ी को सन्मार्ग पर लेते हुए उनके द्वारा शान्तक्रान्ति का निर्माण करना भी इन सुशिक्षित साधुओं की अनन्य साधना है।

स्वरूपनिष्ठा रूप साधना-मार्ग

परब्रह्म का साक्षात्कार करना, हर साधक की अन्तिम अभिलाषा रहती है। इस सिद्धि को पाने के लिए स्वधर्मनिष्ठा रूप साधना एक महत्त्वपूर्ण सोपान है, परन्तु अध्यात्मयात्रा की प्रगति के लिए व्यक्ति को बाहर की अपेक्षा आन्तरिक भावों से अधिक सम्बंध रखना पड़ता है।

इस अन्तर्यात्रा का मार्गदर्शन करानेवाले हैं : प्रत्यक्ष गुरु, भगवत् साक्षात्कारी सन्त, गुणातीत सत्पुरुष!

❖ ❖ ❖

1. गुरु की अनिवार्यता

अध्यात्म-पथ बिना अनुभूति किए सामान्य भेषधारियों से कटनेवाली यात्रा नहीं है। भगवान स्वामिनारायण के मतानुसार इस अगम्य मार्ग पर सच्चे सन्त का प्रभाव प्राणतत्त्व के समान होता है।

उन्होंने श्रीमद्‌भागवत् के वचनों की पुष्टि करते हुए कहा है : 'स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा माहात्म्य ज्ञान युक्त भगवान की भक्ति, जिन एकान्तिक सन्त में होती है, ऐसे सन्त के प्रसंग (आत्मबुद्धि-प्रीति) से ही भागवत धर्म का पोषण होता है, तथा जीव के लिए मोक्ष के द्वार भी ऐसे सन्त के प्रसंग से ही खुल जाते हैं!' (वच. ग.प्र. 54)

यहाँ गुरु के साथ दृढ़ प्रीति को ही मोक्ष के लिए अनिवार्य तत्त्व माना गया है। श्रीहरि कहते हैं कि 'सत्पुरुष में दृढ़ प्रीति ही आत्मदर्शन का साधन है, सत्पुरुष की महिमा समझने का भी यही साधन है तथा परमेश्वर के साक्षात्कार दर्शन का भी यही साधन है!' (वच. वर. 11)

वच. ग.म. 54 में श्रीहरि कहते हैं, 'अष्टांग योग, सांख्य (विचार) तप, त्याग, तीर्थ, व्रत, यज्ञ तथा दान आदि से मैं उतना वश में नहीं होता, जितना सत्संग के द्वारा वश में होता हूँ! जैसे किसी राजा को वृद्ध अवस्था में पुत्र की प्राप्ति होती है, तो वह पुत्र चाहे कितना भी दुष्ट होगा, राजा को उसमें एक भी दोष दिखाई नहीं देगा। क्योंकि राजा को अपने पुत्र के साथ आत्मबुद्धि हो गई है। उसी प्रकार जिसे भगवान के भक्त के स्वरूप में आत्मबुद्धि हुई है, उसने सभी साधनों से सत्संग को अधिक समझा है!'

यहाँ भी सत्-संग का अर्थ है। सत्पुरुष का, गुणातीत गुरु का संग!

अंत में, वचनामृत में श्रीहरि कहते हैं, 'जैसी जीव को (मुमुक्षु साधक को) परोक्ष (देव-देवियों) में प्रतीति है, वैसी ही प्रतीति यदि प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि के स्वरूप में हो, तो उसे चारों पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।'

आत्मबुद्धि का अर्थ है दृढ़ प्रीति, यह तत्त्व साधक के जीवन में नया उल्लास, नई उमंग लाता है। भगवान और गुरु का सत्संग मोक्षमार्ग पर उपस्थित होनेवाले विघ्नों को मिटाता है, साधक के लिए अपने गुणातीत गुरु स्वजनों से भी अधिक 'अपने' होते हैं। जिसके कारण वह सरलतापूर्वक उनके आदेशों का अनुसरण कर पाता है, और यही सावधानी उसे परमात्मा के द्वार तक ले जाती है।

2. गुणग्राहक दृष्टि :

भगवान स्वामिनारायण कहते हैं, 'सत्संग में जिसकी वृद्धि होनेवाली हो, उसे तो शुभ भावना की वृद्धि होती है, तथा वह अपने हृदय में दिन-प्रतिदिन सभी सत्संगियों का गुण ही ग्रहण करता है...।' (वच. ग.प्र. 28)

'भगवान का भक्त तो सभी सत्संगियों का गुण ही ग्रहण करे...। ज्यों-ज्यों भक्त सत्पुरुष के गुण को ग्रहण करता रहता है, त्यों-त्यों उसकी भक्ति में वृद्धि होती रहती है...।' (वच. ग.प्र. 53, 57)

उपर्युक्त साधना अपने आपमें तथा समग्र सम्प्रदाय में ऐक्य की भावना को पल्लवित करती है। सुहृदयता का वातावरण आन्तरिक शान्ति को बनाता हुआ प्रभुप्राप्ति के लिए भी अनुकूल बनता है।

3. भगवदाश्रय तथा भगवत्स्वरूप में एकनिष्ठा :

सत्संग में प्रवेश करने के साथ ही मुमुक्षु को भगवान के आश्रय के प्रतीक रूप कंठी पहनाई जाती है। उसी पल से उसके भीतर दृढ़ता करनी होती है, कि परमात्मा एक है, और वह है, भगवान स्वामिनारायण। मैं उन्हीं का आश्रित हूँ, अन्य सभी अवतारों तथा देवों का आदर करना मेरा कर्त्तव्य हैं, परन्तु एकनिष्ठा रखते हुए अन्य किसी झाड़-फूँक करनेवाले, ओझे-फ़कीरों की तामसी शक्ति पर विश्वास करना भगवान की एकनिष्ठ-भक्ति का तथा भगवान की शक्ति का अपमान ही है।

भगवान स्वामिनारायण कहते हैं, '(मोक्ष के लिए) भगवान का दृढ़ आश्रय ही सभी साधनों में श्रेष्ठ साधना है, इसी साधन से भगवान प्रसन्न होते हैं।' (ग.प्र. 31)

'चारों वेद, पुराण, इतिहास इत्यादि सर्व (शास्त्रों) में यही सिद्धान्त है कि भगवान तथा भगवान के सन्त ही कल्याणकारी है!' (ग.म. 59)

इस एकनिष्ठ भगवदाश्रय के कारण कोई भी सत्संगी भटकने से बच जाता है। न वह वहम या अन्धश्रद्धा में फँसता है, न किसी अन्य को कर्ता-हर्ता मानकर क्षुद्रों के सामने सिर झुकाकर गिड़गिड़ाता है। भगवदाश्रय ही साधक को एक अद्‌भुत गौरव प्रदान कर सकता है।

4. भगवान तथा सन्त के स्वरूप में दिव्यभाव

भगवान तथा गुणातीत सन्त के स्वरूपों में साधक की आत्मबुद्धि हो जाती है, तो उनकी प्रत्येक क्रिया, स्वभाव तथा चरित्र उसे दिव्य तथा कल्याणकारी ही लगता है।

भगवान स्वामिनारायण ने ठीक ही कहा है, 'भगवान के स्वरूप में किसी भी प्रकार का मायिक भाव नहीं है। भगवान तो माया तथा माया के कार्य, तीन गुण, उन सभी से परे है!' ऐसा दृढ़ निश्चय जिसे हो जाता है, वह तो भगवान की माया के पार पहुँच जाता है! (वर. 5)

मनुष्य देह को धारण करते हुए भगवान स्वामिनारायण ने तथा उनके स्थान पर विराजमान गुणातीत सन्त परम्परा ने आज तक जितने दिव्य चरित्र

ऐश्वर्य तथा सामर्थ्य के प्रसंग दिखाए हैं, उनसे भी कई अधिक दिखाए हैं, मनुष्य चरित्र! किन्तु भक्त को 'दिव्यभाव की दृष्टि' मिल गई तो उसे सत्संग का सुख कई गुना अधिक मिलता रहता है!

5. अन्तर्दृष्टि अथवा आत्मनिरीक्षण

साधक को हमेशा अपनी प्रगति करने की भावना रहती है, परन्तु प्रगति में उपस्थित होनेवाले व्यवधानों का ध्यान यदि कोई चूक गया तो वह कभी भगवत् साक्षात्कार या भगवत् कृपा का अधिकारी नहीं हो सकता।

'जिस प्रकार राजा का सिपाही राजा के कार्य में विघ्न करनेवाले को महल में प्रवेश नहीं करने देता, उसी प्रकार हमारे सभी बड़े-बड़े सन्त हमारे हृदय के दरवाजे पर सावधान होकर खड़े हैं। हमारे हृदय में विराजमान भगवान की मूर्ति के पास धन, स्त्री आदि मायिक पदार्थों को प्रवेश करने नहीं देते तथा हानि, लाभ, सुख, दुःख, मान-अपमान आदि स्थान अनन्त विघ्नों में भी वे अपने स्थान से हिलते नहीं है। उसी प्रकार आप सबको भी अपने अन्तर के सम्मुख दृष्टि रखते हुए निरन्तर भगवान की सेवा में रहना है, और भगवान के सिवा अन्य किसी पदार्थ पर स्नेह नहीं रखना।' (ग.अं. 9)

'(रूप-कुरूप आदि सब कुछ देखनेवाली तो यह जीवात्मा है।) लेकिन वह स्वयं अपने को तो देखता नहीं, और केवल बाह्यदृष्टि से (संसारी) पदार्थों को ही देखता रहता है, वह तो अज्ञानी में भी अतिशय अज्ञानी है।' (ग.प्र. 20)

साधक को अन्तर्दृष्टि से 'मैं आत्मा हूँ, तथा परमात्मा का दास हूँ' यह आत्मनिष्ठा सुदृढ़ होती है। अपनी भूलों के विषय में वह सावधान रहता है, तथा उसके भीतर ध्येय की ओर बढ़ने के लिए नया उत्साह उत्पन्न होता है।

6. ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म के प्रति दासभाव

साधना का यह सर्वोत्तम सोपान है। भगवान स्वामिनारायण कहते हैं,

'बिना ब्रह्मरूप हुए किसीको भगवान की भक्ति का अधिकार नहीं मिलता है!' (लो. 7)

आगे भी कहते हैं, 'अष्ट आवरणों से युक्त जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उन्हें अपने एक रोम मात्र में धारण करनेवाले अक्षरब्रह्म को अपना स्वरूप समझना चाहिए तथा ऐसी समझ के साथ (ब्रह्मरूप होकर) भगवान पुरुषोत्तम नारायण की उपासना करनी चाहिए तभी जीव में उत्तम निर्विकल्प निश्चय सिद्ध होता है।' (लो. 12)

❖ ❖ ❖

साधना के इन मुख्य छ: अंगों के साथ-साथ भगवान ने हमें आनुषंगिक साधनों का भी स्पष्ट निर्देश दिया है। इसमें भगवत् **कथा** का श्रवण करना (ग.अं. 24, का. 12), भगवान तथा सन्त की **सेवा** का स्वभाव रखना (वच. ग.प्र. 8, ग.म. 25, ग.म. 7), **नियम, निश्चय** तथा **पक्ष की दृढ़ता** करना (वच. ग.म. 61) आदि का समावेश किया जा सकता है।

वच. ग. अं. 24 में तो भगवान स्वामिनारायण ने साधना के सद्‌गुणों की एक पूरी सूची ही दे दी है। वे कहते हैं, 'श्रद्धा, स्वधर्म, वैराग्य, सर्वप्रकार से इन्द्रियों का निग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सन्तों का सत्संग, आत्मनिष्ठा, माहात्म्यज्ञान युक्त निश्चय, भक्ति, सन्तोष, निर्दम्भता, दया, तप, अपने से गुणवान भक्तों के प्रति गुरुभाव, समकक्ष भक्तों के प्रति मित्रभाव तथा अपने से निम्न कोटि के भक्तों के प्रति शिष्यभाव रखते हुए उनका हित करना -आदि सोलहों साधनों से भगवान का एकान्तिक भक्त भगवान के अक्षरधाम में भगवान की सेवा को सहज ढंग से प्राप्त करता है!'

स्वामिनारायण सम्प्रदाय की साधना-पद्धति एक आदर्श सनातन हिन्दू-पद्धति है। हर व्यक्ति के लिए इस साधनामार्ग पर सरलतम प्रवेश है, इतना ही नहीं, इसके प्रत्येक मोड़ पर मार्गदर्शक सन्तों का साथ है, गुरु का हर समय आशीर्वाद, प्रेरणा और प्रत्यक्ष मार्गदर्शन भी है! बस, यही कारण है, कि मुमुक्षु के लिए मोक्ष का द्वार यहाँ निश्चित रूप से खुल जाता है, साक्षात्कार की यह प्रतीति ही साधक के जीवन को उल्लास से भर देती है।



अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी इष्टदेव भगवान स्वामिनारायण की सेवा में...।

९३

सन्तरूप होई प्रकट विराजत!

केवल उनचास वर्ष का छोटा सा काल, महाकाल के सामने क्या होता है? कुछ भी नहीं। लेकिन सन् 1781 से सन् 1830 के 49 वर्ष की अल्प आयु में सर्वावतारी भगवान स्वामिनारायण ने न जाने कैसा अनुपम चक्र घुमा दिया, उनके जीवनलीला समेटने के बाद आज पोने दो सौ वर्षों का समय बीत चुका है, परन्तु निरन्तर इस चक्र की गति वर्धमान होती जा रही है। इस चक्र की परिधि ने गुजरात की सीमाएँ लाँघकर विश्व के इक्यावन देशों में अपना प्रभाव फैला दिया है।

क्या किया था उन्होंने अपनी इस अल्पकालीन आयु में, जिस पर आज एकान्तिक धर्म की बुलन्द इमारतें खड़ी हो चुकी हैं? कौन सा ऐश्वर्य दिखाया उन्होंने कि आज त्यागियों में ब्रह्मचर्य की सुगन्ध तथा गृहस्थ अनुयायियों में संयम-सदाचार की सुगन्ध घुल गई है।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के घोष को साकार करने की क्षमता हज़ारों-लाखों लोग आज गुणातीत समाज में देखते हैं।

भगवान स्वामिनारायण ने अपने उस अल्प समय में जो कुछ किया,

उन युगवर्ती कार्यों को तथा कार्यों में झलकनेवाली उनकी महत्ता एवं भगवत्ता को वैराग्यमूर्ति विद्वान् सन्तकवि निष्कुलानन्दजी ने प्रत्यक्ष देखा था। वे अपने प्रसिद्ध चरित्र ग्रन्थ 'भक्त-चिन्तामणि' में कहते हैं :

'पापियों को पुण्यात्मा बनानेवाले मेरे इष्टदेव भगवान स्वामिनारायण के चरणों में कोटिशः प्रणाम। उन्होंने अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सदाचार की स्थापना की, शास्त्रों का, काव्यों का तथा उच्चतम अध्यात्म साहित्य का सृजन करवाया, संसार में एकान्तिक धर्म की प्रस्थापना की, योगकला से सहस्त्रों मुमुक्षुओं को समाधि के द्वारा अपने अवतारी स्वरूप की प्रतीति करवाई, ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की भक्ति करने की ब्रह्मविद्या का प्रवर्तन वे गाँव-गाँव घूमकर करते रहे, अहिंसामय यज्ञों का आयोजन, उपासना का प्रवर्तन के लिए भव्य मन्दिरों का निर्माण, निष्कलंक त्यागी-वृन्द की ब्रह्मचर्यनिष्ठ परम्परा तथा शिक्षापत्री एवं वचनामृत के समान ग्रन्थों को प्रदान करना उनके असाधारण कार्य थे। देव, ब्राह्मण, तीर्थ तथा सन्तों की महिमा का विस्तार उन्होंने बड़े सहज ढंग से किया। पूरे समाज की सेवा के लिए कल्याणमयी प्रवृत्तियों का ऐसा सिलसिला चलाया कि धर्मस्थानों से उठा लोगों का विश्वास पुनः जग गया। अपनी प्रतिमा की स्थापना तथा उत्सवों की आत्मीय परम्परा की स्थापना उनका अद्‌भुत योगदान रहा। तत्त्वज्ञान के प्रकाश में गुणातीत गुरुओं की परम्परा के द्वारा इस धरातल पर अपना शाश्वत प्राकट्य रखना, उनको सहज ही 'परमात्मा' साबित कर देता है।'[128]

'मैं आपके द्वारा प्रकट हूँ !'

सन् 1830 में फागुन का महीना बीत रहा था। चिलचिलाती तेज धूप में पंछी भी अपने घोसलों में आराम कर रहे थे। पूरा गढ़पुर आज कई दिनों से विचित्र-सी उदासी में डूबा हुआ था। दादाखाचर के दरबारगढ़ में छोटी सी अक्षरकुटिया में भगवान स्वामिनारायण तेज ज्वर में भी सन्तों की सेवा के लिए, सन्तों को अन्तिम बार अपने ही हाथों से भोजन परोसने के लिए तड़प रहे थे।

128. भक्तचिन्तामणि : प्र. १६०।

अन्तेवासी[129] मुकुन्द ब्रह्मचारी ने इस से पहले श्रीहरि का स्वास्थ्य इतना गिरा हुआ कभी नहीं देखा था। उनकी भीगी हुई आँखें श्रीहरि के फ़ीके मुखारविन्द की ओर रह-रहकर अटक जाती थीं। धीरे से उन्होंने पूछा था, 'महाराज, यह क्या हो रहा है? आज तो आपने भोजन भी नहीं लिया है।'

'भोजन की मत सोचो, ब्रह्मचारी! हमें तो अक्षरधाम की ओर चलने का संकल्प हो रहा है।' श्रीहरि ने सहजभाव से कहा था।

सुनते ही सन्त मूर्च्छित हो जाते थे।

एक दिन उन्होंने सभा का आयोजन करवाया।

स्वयं आकर आसन ग्रहण किया, फिर धीमे स्वर में प्रवचन आरम्भ किया, 'भक्तो, सन्तो! ध्यान से सुनिए। अब अक्षरधाम के मुक्त हमें बुला रहे हैं। एकान्तिक धर्म की स्थापना का मेरा मुख्य उद्देश्य पूर्ण हो गया है। अब हमें चले जाने की सहमति दीजिए।'

सुनते ही सभा पर मानो बिजली गिर गई। भारी कल्पांत के बीच कई सन्त, भक्त बेहोश हो गए।

कुछ दिनों तक ऐसी ही उदासी चलती रही। कम्पनी सरकार के मुंबई प्रान्त के गवर्नर मि. जॉन माल्कम ने श्रीहरि को निमन्त्रित किया, तो उनके अत्यन्त प्रेमाग्रह को देखकर तीन दिन के लिए राजकोट पधारे। उनको नीतिमय जीवन जीने का आदेश देकर महाराज पुनः गढ़पुर लौट आए। कुछ दिनों में ही पुष्पदोलोत्सव आया तो श्रीहरि स्वतः बोल उठे, 'यह हमारा अन्तिम उत्सव है!'

बस, उस दिन के बाद से रोग को ग्रहण करते हुए उन्होंने अपनी वृत्तियों को स्व-स्वरूप में विलीन कर दिया। न किसी को बुलाते थे, न किसी के बुलाने पर बोलते थे।

सम्प्रदाय के वरिष्ठ सन्त स्वामी भायात्मानन्दजी ने जब बड़े प्रेमभाव से श्रीहरि से पूछा, 'आपने क्या सोच रखा है? कुछ सन्तों-भक्तों के दुःख का भी तो विचार किया करो। हमारी कैसी बेहाल, अनाथ अवस्था हो रही है?'

---

129. इष्टदेव या गुरु के पास रहनेवाला सेवक।

तनिक मुस्कुराते हुए श्रीहरि ने उन्हें सान्त्वना दी। कोई बोल उठा : 'प्रभु, आप शरीर नहीं छोडेंगे! नहीं छोडेंगे! महाराज, यदि कहीं ऐसा अनर्थ हो गया, तो लोग आपके पीछे आत्महत्या करने लगेंगे!'

महाराज ने कहा था, 'हम ऐसा नहीं होने देंगे! सबके भीतर मैं ऐसा धैर्य पैदा करूँगा कि किसी की नकसीर तक नहीं फूटने दूँगा।'

एक सुबह की बात है, महाराज स्वयं उठे और दादाखाचर से कहा, 'सभा का आयोजन करो, मैं सभा में आ रहा हूँ।'

श्रीहरि के स्वस्थ होने की खबर पूरे नगर में फैल गई। ढोल-नगाड़े बजवाए गए। महाराज सभा में उपस्थित हुए और बिना किसी भूमिका के उन्होंने कहा : 'मेरा सभी कर्तव्य पूर्ण हुआ है। जो कुछ सोच-विचारकर मैं अक्षरधाम से आया था, अब कुछ शेष नहीं है। जो भी बिना समझे मेरा द्वेष करेगा, उसका पराभव होगा। मुझे अब इस पृथ्वी पर नहीं रहना है...।' यह सुनते ही लोग शव की भाँति गिरने लगे। कितने ही बेहोश हो गए तो कई पागल की तरह प्रलाप करने लगे। लेकिन महाराज बोलते रहे, 'मैं कहाँ 'आया' था? और कहाँ 'जा' रहा हूँ? यह तो जादूगर की माया के समान है! न मैं मनष्य हूँ, न देवता। पर मुझे परब्रह्म की दृष्टि से देखें! मैं इस पृथ्वी से केवल अपने शरीर को छोड़ रहा हूँ, परन्तु अपने एकान्तिक सन्त के द्वारा हमेशा आपके साथ रहूँगा।'

परन्तु किसी को सुनने की सुध नहीं थी। श्रीहरि ने दो-चार दिन के बाद अक्षरब्रह्मावतार स्वामी गुणातीतानन्दजी को जूनागढ़ से अपने पास बुलवा लिया। उनके स्वरूप की पहचान करवाई। 'गुणातीत मेरे रहने का अक्षरब्रह्म धाम है। अत: मेरी आज्ञा है कि प्रतिवर्ष सत्संग के सूत्रधारों को भी इनके सत्संग के लिए जूनागढ़ जाना चाहिए! यदि कोई ऐसा करेगा, तो उसके सौ जन्म में भी न मिटनेवाली वासना तथा प्रकृति इसी जन्म में मिट जाएगी, तथा वह अक्षरधाम का मुक्त बनेगा।'

❖ ❖ ❖

ज्येष्ठ महीने की धूप आकाश से अंगारे बरसा रही थी। गीले वस्त्र को खिड़कियों पर लटकाकर 'अक्षरकुटिया' को शीतल रखने के प्रयास जारी थे। पूरा गढ़पुर शोकग्रस्त श्मशान सा दृष्टिगोचर हो रहा था। रात को

कभी ऐसी गर्म आंधी चलती कि प्रत्येक अपशकुन की आशंकाएँ भक्तों के हृदय में झंझावात पैदा कर देती।

अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी को श्रीहरि ने अपने पास बुलाकर कहा : *'मीठा व्हाला, केम विसरुं मारुं तमथी बांधेल तन हो!'* स्वामी! आपके स्नेह और भक्ति ने मुझे वशीभूत कर लिया है। मैं तो जा रहा हूँ, परन्तु मेरा आनन्द इस सत्संग को अब आपके द्वारा मिलता रहेगा! आप हमारी महिमा का प्रवर्तन करना और जीवों को ब्रह्मरूप करके अक्षरधाम के अधिकारी बनाना। हम जूनागढ़ के ज़ामिन हुए हैं। अत: आपके द्वारा सभी को हमारे सत्संग का आनन्द प्राप्त होगा।'[130]

ज्येष्ठ शुक्ल दशम मंगलवार के दिन प्रात: 9:00 बजे, उन्होंने स्नान करके, चौकी पर पद्मासन लगाकर अपनी वृत्ति स्व-स्वरूप में लीन कर ली...। पूरा दरबारगढ़ अचानक दिव्यतेज में डूब गया। अनेक लोगों को अनन्त मुक्तों के दर्शन हुए और श्रीहरि ने केवल 49 वर्ष की आयु में अपनी शरीरलीला समेट ली!

आज तो लक्ष्मीवाड़ी-गढ़डा में उनके अग्नि संस्कार के स्थान पर छोटा सा रमणीय स्मृति मन्दिर विद्यमान है।

श्रीहरि के अक्षरधाम गमन के बाद दूसरे ही दिन अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी को दर्शन देकर श्रीहरि ने कहा, 'मैं कहाँ गया हूँ? मैं तो आपके द्वारा निरन्तर प्रकट हूँ... प्रकट हूँ... प्रकट हूँ...।'

आज सम्प्रदाय का छोटा सा बच्चा भी निष्ठा के साथ कहता सुनाई देगा, 'भगवान कहीं नहीं गए हैं! वे तो हमारे गुणातीत गुरु प्रमुखस्वामी महाराज के द्वारा प्रकट ही हैं।'

आइए, पहचानें इस गुणातीत पुरुषों की भव्य परम्परा को, जिनके द्वारा आज भी भगवान स्वामिनारायण इस धरातल पर विद्यमान हैं। प्रकट हैं।

अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी

अक्षरब्रह्मावतार सद्गुरु गुणातीतानन्द स्वामी का जन्म सन् 1785 की

130. भगवान स्वामिनारायण, प्रथम संस्करण. : ह. त्रि. दवे : ४/७१६।

शरदपूर्णिमा की रात्रि के समय गुजरात के जामनगर जिले के भादरा गाँव में ब्राह्मण कुल में हुआ था। भोलानाथ जानी उनके पिता थे, माता का नाम था साकरबा। बालक का नाम रखा मूलजी। जिस अक्षरब्रह्म को वेदों तथा उपनिषदों ने मोक्षप्राप्ति का मार्ग व परमपद माना है, जिसकी महिमा गीता तथा अनेक शास्त्र 'नेति नेति' कहकर गाते हैं। वही अक्षरब्रह्म बालस्वरूप में प्रकट हुए!

ज्योतिषी ने इस बालक को 'पुरुषोत्तम नारायण की उत्तम विभूति' कहा, उनको जन्म से ही जड़भरत के समान वैराग्य तथा संसार से अनासक्ति थी। परमतत्त्व से साक्षात्कार, उनकी अनादि भूमिका को सहज ही उजागर कर रहा था। वे बचपन से कहा करते, 'माँ, माँ, मैं तो साधु बनूँगा!' भजनमग्न मूलजी को भगवान स्वामिनारायण ब्रह्मचारी वेश में जहाँ-जहाँ विचरते वह प्रत्यक्ष दिखाई देते थे।

उनकी रहस्यमय बातें बालमित्रों में भी आश्चर्य जगाती। उनकी क्रीड़ा में भी ब्रह्मज्ञान का झरना झरता था। खेल-खेल में कुएँ में डाले गए पत्थर से पानी पर लगी काई हट गई तो मूलजी ने कहा था, 'मित्रो, काई के हटते ही पानी निर्मल दिखाई दिया, उसी प्रकार माया के हटते ही आत्मदर्शन हो जाता है!'

पन्द्रह वर्ष की आयु में मूलजी को पीपलाणा गाँव में भगवान स्वामिनारायण के प्रथम दर्शन हुए। भगवान ने कहा था, 'यह तो हमारे रहने का साक्षात् अक्षरधाम है।' मूलजी ने छोटी आयु में ही विविध सम्प्रदायों के मर्म को समझकर भागवतधर्म के प्रवर्तन के लिए भगवान स्वामिनारायण का शिष्यत्व स्वीकार किया। माता-पिता के देहत्याग के बाद मूलजी का अन्तर्मन संसार के बन्धन को तोड़ने के लिए छटपटा रहा था। एक दिन गन्ने के खेत में दिव्य दर्शन देकर स्वामिनारायण भगवान ने उनसे कहा, 'इस संसार में ब्रह्मतेज सूख गया है। अब निकल पड़ो।' और मूलजी ने तुरन्त घर छोड़ दिया!

डभाण में सन् 1810 में भागवती दीक्षा प्राप्त कर मूलजी 'स्वामी गुणातीतानन्दजी' बने।

सहजानन्द स्वामी ने कहा था, 'यह मूलजी शर्मा हमारा मूर्तिमान

अक्षरब्रह्म धाम है।' परिव्राजक जीवन की अनेक कठिन परिस्थितियों में भी स्वामी की साधुता अधिक प्रकाशमान हो उठी।

रुग्ण सन्तों की सेवा करना, ध्यान करना, आत्मसत्तारूप रहना तथा धर्मोपदेश देना, स्वामीश्री प्रत्येक में निपुण थे। उनकी विनम्रता के पीछे उनकी करुणा का प्रवाह बहा करता। विरोधियों के लिए भी उनके अन्त:करण से आशीर्वाद फूट पड़ता। इस अजातशत्रु सन्त की विशालता अतुलनीय थी। ऐसे सन्त को भगवान स्वामिनारायण ने 'अपने जैसे फ़कीर' कहकर जूनागढ़ मन्दिर के महन्त पद पर सुशोभित किया और कहा, 'आज मैं अपने अक्षरधाम गुणातीतानन्द स्वामी को आप सब हरिभक्तों को भेंट में दे रहा हूँ।' इसके बाद थोड़े ही समय में अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकारी पद पर अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी को नियुक्त करके भगवान स्वामिनारायण ने अपनी जीवनलीला समेट ली...। स्वामीश्री ने भी कथावार्ता द्वारा सहजानन्द स्वामी के स्वरूप की महिमा भरपूर निष्ठा से तथा पात्र-कुपात्र देखे बिना ही कहना प्रारम्भ कर दिया।

स्वामीश्री उत्तम वक्ता थे। सरल किन्तु वास्तविक, संक्षिप्त किन्तु मर्मभेदक, सत्य किन्तु सौम्यता से भरा उनका वक्तव्य दृष्टान्तमय तथा मानव प्रकृति को परिवर्तित करनेवाला था। इष्टदेव की महिमा तथा धर्म-नियम की दृढ़ता उनके प्रिय विषय थे। गंगा के प्रवाह के समान उनकी वाणी निरन्तर बहती रहती।

स्वामीश्री ने अनेक मुमुक्षुओं को ब्रह्मस्थिति प्राप्त कराई, अनेक लुटेरों, डकैतों को सदाचार की राह पर चलाया, ब्रह्म-परब्रह्म के सनातन ज्ञान को सहस्त्रों सत्संगियों के हृदय में स्थापित किया तथा ब्रह्मज्ञान-प्रवर्तन हेतु अपने उत्तराधिकारी के रूप में प्रागजी भक्त को पसंद किया! जूनागढ़ के स्वामिनारायण मन्दिर का व्यवहार सर्वोच्च स्तर पर पहुँचाकर, सहस्त्रों हरिभक्तों में निष्ठा तथा सत्संग का रंग चढ़ाकर, त्यागीवृन्द में पंचवर्तमान की दृढ़ता करवाई। स्वामीश्री ने सन् 1867 में 82 वर्ष का अपना शरीर गोंडल (जि. राजकोट) के मन्दिर में छोड़ दिया। उनके देहोत्सर्ग स्थान पर आज चमत्कारी प्रासादिक स्थान 'अक्षरदेहरी' सहस्त्रों मुमुक्षुओं के शुभ संकल्पों को पूर्ण करती है।

भगतजी महाराज

अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी के कृपापात्र एवं गुणातीत गुरु परम्परा के महापुरुष भगतजी महाराज सन् 1829 में होली के दिन सौराष्ट्र की शस्य-श्यामला धरती महुवा (जि. भावनगर) गाँव में प्रकट हुए थे। माता मालुबाई एवं पिता गोविंदभाई की ये दूसरी सन्तान थे। बालक का नाम रखा गया प्रागजी। बचपन से ही गाँव के लक्ष्मीनारायण मन्दिर में मित्रों के साथ धुन--भजन एवं आरती में जाना उनके निजी आनन्द की प्रवृत्ति थी। मन्दिर में महन्तजी के साथ रहकर वे भक्तिभाव में तल्लीन हो जाते। इस मनोहर बालक के कान्तिमान व्यक्तित्व में महन्तजी को अध्यात्म की महान प्रतिभा का दर्शन होता। विद्यालय में पढ़ने जाते तब वे मित्रों से प्राय: कहा करते, 'मेरी पढ़ाई तो पहले ही समाप्त हो चुकी है! मेरा जन्म तो भगवान की उपासना करने तथा दूसरों को ब्रह्मविद्या की ओर ले जाने के लिए हुआ है!' उनके विभूति-तत्त्व का दर्शन उनके बचपन से ही प्रकट हो रहा था।

भगवान स्वामिनारायण के सन्त योगानन्दजी के सम्बंध से उनका पूरा परिवार स्वामिनारायणीय सत्संग में शामिल हुआ। भगवान स्वामिनारायण के उत्तम परमहंस योगीराज गोपालानन्द स्वामी ने इस बालभक्त को पहली बार देखा तो बोल उठे थे, 'यह तो बड़ा समर्थ है, और सहस्त्रों को भगवान की साधना करवाएगा!' प्रागजी भक्त ने भी सत्संग में समर्पित रहने का निश्चय कर लिया था। गोपालानन्द स्वामी की अपार सेवा करके प्रागजी भक्त ने उन्हें प्रसन्न किया और उनके अक्षरवास के बाद वे अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द के पास जूनागढ़ आकर सेवा, साधना तथा भगवान की निरन्तर स्मृति रखने का अभ्यास करने लगे।

धर्मशाला की चिनाई, खेतीबाड़ी, बर्तन साफ़ करने की सेवा या अन्य किसी भी सेवा में वे लगातार 23-23 घंटों तक लगे रहते! इतनी प्रवृत्ति के बावजूद भगवान को पलमात्र के लिए भी न भूलते। यह उनकी साधना की चरमसीमा थी! गुरु गुणातीतानन्द स्वामी की आज्ञा के कारण साढ़े तीन वर्ष तक उन्होंने ऐसा कठोर तप किया कि लोग उनकी देहातीत स्थिति देखकर विस्मित रह जाते थे! वह तपस्या थी धारणा-पारणाव्रत की! वे उन वर्षों में

एक समय भोजन लेकर दो दिन तक निर्जल उपवास करते। ऐसे तप के समय भी लगातार 23 घंटों तक श्रम की साधना तनिक भी मंद नहीं होती थी! सालों तक पालथी लगाकर केवल एक घंटा नींद लेना, सामान्य साधक के लिए सम्भव नहीं हो सकता!

सुख और दुःख, मान और अपमान में समता, राग और द्वेष से परे सुख एवं शान्ति के प्रदेश में निवास, मुख पर प्रसन्नता और सबको 'ब्रह्म की मूर्ति' मानने की उनकी ब्रह्मदृष्टि अपने आप में असाधारण थी। अपनी कृपादृष्टि हुई तो गुणातीतानन्द स्वामी ने उन्हें नौ दिन तक ध्यान में बिठाकर उनको भगवान स्वामिनारायण का साक्षात्कार करवा दिया था।

त्यागी दीक्षा न लेने पर भी बड़े-बड़े लोग उनके उपदेशों में सार पाते थे। प्रागजी भक्त की कथा सुनने के लिए बड़े-बड़े सद्‌गुरु भी आतुर रहते थे! वे उनकी साधुता की प्रशंसा करते और कहते कि आपकी तो स्वर्ण की आरती बनाकर उतारें तो भी कम है! उनके मुख पर ब्रह्मानन्द का तेज देखकर वरताल के कोठारी ने भी पूछा था कि इसका रहस्य क्या है? भगतजी ने उत्तर दिया था : 'मैं सबको ब्रह्म की मूर्ति समझता हूँ! आप भी वैसा ही समझिए...। आनन्द का यही एक मात्र कारण है।'

सैंकडों सन्त-हरिभक्तों को उन्होंने गुणातीतानन्द स्वामी की अपार महिमा समझाई। उनका 'अक्षरब्रह्म' स्वरूप भगतजी महाराज ने ही उजागर किया। इससे उनके अनेक शत्रु हो गए। अपमान तो वे अमृत मानकर पी लेते थे! द्वेष के विष को वे आदर के अमृत में परिवर्तित कर देते! अपने सैंकड़ों सिद्धान्त-निष्ठों के बीच भगतजी ने एक पहाड़-सा अविचल, फूलों-सा सौम्य, बिजली-सा चपल और सागर-सा गंभीर शिष्य चुन लिया, जो अक्षर और पुरुषोत्तम के सनातन वैदिक तत्त्वज्ञान को विश्व के अन्तिम छोर तक फैलाने में सक्षम था! और वह शिष्य थे ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज!

सन् 1897 में उन्होंने महुवा में शरीरलीला समाप्त की। वे कहते थे, 'यज्ञपुरुषदास (शास्त्रीजी महाराज) तो मेरा सब से लाडला 'पुत्र' है।'

भगवान स्वामिनारायण के इस दूसरे अनुगामी ने अक्षरब्रह्म की महिमा के प्रवर्तन का वातावरण खड़ा कर दिया और सत्संग में आत्मा-

परमात्मा के ज्ञान की यशपताका भी बड़ी निष्ठा तथा अपार उत्साह के साथ फहराई।

शास्त्रीजी महाराज

भगवान स्वामिनारायण ने सनातन वैदिक तत्त्वज्ञान को जिस स्पष्टता के साथ दिया है, वह अपने आप में अतुलनीय है। अक्षररूप होकर पुरुषोत्तम की भक्ति करना ही मोक्ष का अन्तिम चरण है, इस औपनिषदिक तत्त्वज्ञान के सार को मूर्तिमंत स्वरूप दिया था ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज ने!

गुजरात के महेलाव (जि. आणंद) पावन गाँव में सन् 1865 की वसन्त पंचमी के दिन उनका प्राकट्य हुआ। पिता धोरीभाई तथा माता हेतबा ने उस दिन घर में दिव्य तेज की अनुभूति की। इस सौम्य बालक का नाम रखा गया : डूंगर! शैशव में ही उनको भगवान स्वामिनारायण के परमहंस सद्गुरु शुकानन्दजी का आशीर्वाद मिल चुका था। अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी ने तो दो वर्ष के डूंगर को आशीर्वाद देते हुए कहा था कि यह बालक सहजानन्द स्वामी की सर्वोपरि निष्ठा का प्रवर्तन करेगा, शुद्ध उपासना की पुष्टि करेगा और कथावार्ता से सत्संग की वृद्धि करेगा!

बचपन से ही निडर प्रकृति, सेवा और सत्संग की लगन, कला में रुचि और प्रवीणता, अध्यात्म-विषयों में अभिरुचि, बड़ों-बड़ों के साथ अध्यात्मिक चर्चा करने की दक्षता आदि गुणों से उनके सम्पर्क में आनेवाले चकित हो जाते थे। महेलाव में एक पंडितजी के अकाल अवसान के कारण अटकी हुई महाभारत-कथा डूंगर भक्त ने केवल सात वर्ष की उम्र में पूरे गाँव के श्रोताजनों के समक्ष कह सुनाई थी! विद्याभ्यास में सर्वदा प्रथम रहनेवाले डूंगर के मन में अब अध्यात्म के पथ पर जाने की उमंग उठने लगी! उन्होंने सोचा, 'त्यागियों में मैं सर्वदा प्रथम रहूँगा!' भगवान स्वामिनारायण के परमहंस स्वामी विज्ञानानन्दजी से उनका सम्पर्क हुआ। बातों ही बातों में वे साधु बनने को तैयार हो गए, पिताजी को उन्होंने स्वयं उपदेश दिया और भारी संघर्ष के बाद उन्होंने त्यागी होने की अनुमति पाई। केवल 18 वर्ष की उम्र में दीक्षा पाकर वे 'स्वामी

यज्ञपुरुषदासजी' बने!

सूरत शहर के मन्दिर में वे ध्यान का अभ्यास, कोठार की सेवा, संस्कृत का अध्ययन और कथावार्ता सुनने तथा करने का प्रशिक्षण लेते रहे। इस छोटे से साधु को हर कोई अपने साथ सेवा में लेने के लिए लालायित रहता। क्योंकि इतना सेवाभावी, विनम्र, चपल तथा निपुण युवा सन्त कहीं अन्यत्र मिले भी तो कहाँ मिले?

सूरत में एकबार उत्सव के अवसर पर उन्हें महुवा के प्रागजी भक्त का सत्संग हो गया। उनसे हुए वार्तालाप के कारण उनकी तो मानो अध्यात्म की दिशा ही पलट गई! अक्षररूप होने के लिए अक्षर की आवश्यकता होना, तथा पुरुषोत्तम को पाने के लिए प्रत्यक्ष गुरुहरि के साथ आत्मबुद्धि करना इत्यादि सिद्धान्तों को उन्होंने ठीक से समझने का आरम्भ किया। गुणातीतानन्द स्वामी के 'अक्षरब्रह्मत्व' के एक के बाद एक साक्ष्य इकट्ठे करते चले। अपमान सहन करके, द्वेषियों के द्वेष झेलकर भी उन्होंने सत्यनिष्ठा की डोर तनिक भी शिथिल नहीं होने दी। संस्कृत भाषा में व्याकरण और वेदान्त के विषय में तो उन्होंने ऐसी निपुणता प्राप्त की, कि गढ़डा में हुए शास्त्रार्थ में उन्होंने गुजरात के बड़े-बड़े विद्वानों के भी छक्के छुड़ा दिए थे! उस समय उनके विद्यागुरु रंगाचार्यजी ने भी कहा था: 'अस्मिन् सम्प्रदाये एकमेव!' हमारे सम्प्रदाय में ऐसा समर्थ विद्वान यह एक ही है!

सत्य, उपासना के प्रवर्तन तथा अज्ञानियों के अज्ञान के कारण एवं 'सत्य सिद्धान्तों में किसी प्रकार का समाधान सम्भव नहीं होता,' इस मान्यता के कारण उनको विष भी खाना पड़ा, अंगारों को भी अपनी पीठ पर झेलना पड़ा, कदम-कदम पर अपमान से जूझना पड़ा, लेकिन वे पहाड़ की भांति अचल रहे! अन्त में उन्होंने अक्षर तथा पुरुषोत्तम के सिद्धान्त के प्रवर्तन के लिए सन् 1907 में बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था – BAPS की स्थापना की।

भगवान स्वामिनारायण के संकल्पानुसार बोचासण, सारंगपुर, गोंडल, अटलादरा तथा गढ़पुर में अद्भुत तथा स्थापत्य के कलापूर्ण गगनचुंबी मन्दिरों का निर्माण करवाया, साधुता की चादर ओढ़े उन्होंने सेवा-प्रवृत्ति

का चक्र ऐसा घुमाया कि जब 86 वर्ष की उम्र में सन् 1951 में वे अक्षरनिवासी हुए तब तक अपने समर्थ शिष्य योगीजी महाराज को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया! विश्वफलक पर फैलनेवाली BAPS संस्था की नींव गहराई तक जमा दी! सनातन वैदिक उपासना मार्ग पर समाज के हर मुमुक्षु को चलने के लिए ब्रह्मपथ को परिशुद्ध किया!

योगीजी महाराज

विश्वभर में बाल संस्कार और युवाप्रवृत्ति के वटवृक्ष को पल्लवित करनेवाले वात्सल्यमूर्ति योगीजी महाराज अर्थात् मूर्तिमंत साधुता! भक्ति की साकार प्रतिमा! वात्सल्य का शीतल सरोवर! सद्‌गुणों का महासागर! इन सन्तवर्य का जन्म पिता देवजीभाई तथा माता पुरीबाई के घर सौराष्ट्र के धारी (जि. अमरेली) गाँव में सन् 1892 में हुआ था! बचपन में लोग उन्हें 'झीणाभाई' कहा करते थे।

शेत्रुंजी नदी के किनारे बसा हुआ यह रमणीय गाँव झीणाभाई की अध्यात्म रुचि का भी परिपोषक था। स्वामिनारायणीय सद्‌गुणी सन्तों का सत्संग, गाँव में ही स्वामिनारायण मन्दिर के दर्शन, सेवा, पूजा, आरती तथा कथा की परम्परा एवं शेत्रुंजी के तट पर छोटा-सा झरना झीणा भक्त के प्रिय से भी प्रिय स्थान थे। झरने के किनारे वे घंटों तक ध्यान करने बैठ जाते। अपने चाचा मोहनभाई कभी बीमार होते तो मन्दिर की हर प्रकार की सेवा झीणाभाई करते। विद्यालय में छुट्टी के समय बच्चे खेलते रहते, और झीणाभाई जाकर एक नीम के पेड़ के तले कहीं अंतरिक्ष में खोए से बैठे रहते...। शिक्षक पूछते तो बताते, 'भगवान का ध्यान कर रहा हूँ!' शिक्षक खिल्ली उड़ाते कहते, 'इतनी ही लगन है, तो साधु होकर ही रहो न!' मंद स्मित करते झीणा भक्त यही कहते, 'समय आने पर साधु बनने का ही विचार है!'

शिक्षक विस्मित होकर चलते बनते। हाँ, इतना तो अवश्य था कि झीणा की सत्यनिष्ठा, एकाग्रता और पढ़ाई का कौशल्य उनको अच्छी तरह मालूम था। अन्त में वह दिन आ गया। जब वे निरन्तर भगवान के विचारों में खोये रहते, तथा सेवा में लगे रहते। इस किशोर को जूनागढ़ के

स्वामिनारायण मन्दिर के वरिष्ठ सन्त कृष्णचरणदासजी ने पूछा, 'झीणा, साधु बनोगे?' बस, झीणाभाई के रोम-रोम पुलकित हो उठे। माता के लिए बेटे की विदाई असह्य थी, किन्तु झीणाभाई को अब संसार की आसक्ति बांध नहीं सकती थी।

जूनागढ़ में पार्षदी दीक्षा लेने के बाद तप, साधना और सेवा में उन्होंने न दिन देखे, न रात! हर तीसरे दिन निर्जल उपवास उनका व्रत बन गया! 12 से अधिक वरिष्ठ सन्तों की सेवा करना उनका नित्यक्रम था और पशु चराने के लिए गिरनार के जंगलों में जाना, वहाँ से दातुन के लिए छड़ियाँ काट लाना आदि तो उनका स्वभाव हो गया! कुछ ही महीनों के बाद वरताल में उन्होंने भागवती दीक्षा पाई, अब वे झीणा भगत से 'स्वामी ज्ञानजीवनदासजी' बने! उनके तप आदि के कारण लोग उन्हें 'योगी' कहने लगे। जूनागढ़ के अग्रिम सन्तों से उन्होंने सुना था कि गुणातीतानन्द स्वामी अक्षरब्रह्म है, भगवान सहजानन्द स्वामी पुरुषोत्तम है...। किन्तु इस सत्य सिद्धान्त का प्रवर्तन उन्होंने खुलेआम कहीं नहीं पाया, सिवा ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज की छत्रछाया में! वे शास्त्रीजी महाराज की निश्रा में आ गए।

पंचविषयों से सहज निःस्पृहता, विरोधियों और द्वेषियों के प्रति सहज अजातशत्रुता तथा भगवान स्वामिनारायण में अपार भक्तिभावना उनकी पहचान थी, भगवान का एक गरीब भक्त, उनके लिए बड़े-बड़े महाराजाओं से भी महान था। मारपीट, अपमान और अंगारों से अधिक दाहक शब्दबाणों को उन्होंने सहज झेला था, ऐसे समय भी उनके मुख पर स्मित की रेखा झलकती रहती। मध्यरात को उठकर सन्तों, भक्तों और मन्दिर की सेवा करना, गाँव-गाँव सत्संग प्रवर्तन के हेतु ॠतुओं के प्रहार झेलना उनके लिए स्वाभाविक था!

सन् 1951 में गुरु शास्त्रीजी महाराज के अक्षरवास के बाद उन्होंने सत्संग के सूत्र संभाले और साथ ही वात्सल्य के प्रवाह में बहाकर युवा पीढ़ी और बालजगत को सत्संग रंग में सराबोर कर दिया। तीन विदेश यात्राओं से अफ्रीका तथा इंग्लैण्ड में स्वामिनारायण हिन्दू मंदिरों की प्रतिष्ठा की, युवा-अधिवेशनों, सुशिक्षित नवयुवक त्यागियों की परम्परा

की स्थापना, साप्ताहिक सत्संग सभा आदि अनेक अद्‌भुत संकल्पों से उन्होंने सत्संग प्रवर्तन के कार्यों को नया आयाम दिया। गुरुकुल तथा छात्रालयों की प्रवृत्ति से संस्था को शिक्षण प्रवृत्ति में अग्रसर किया, खेल-खेल में ही ब्रह्मज्ञान की अद्‌भुत सीख देनेवाले साधुमूर्ति योगीजी महाराज स्वयं आज भी अपनी फैली हुई प्रवृत्तियों के द्वारा तथा अपने उत्तम उत्तराधिकारी प्रमुखस्वामी महाराज के रूप में प्रकट हैं!

दिल्ली में भगवान स्वामिनारायण का अद्वितीय संकुल निर्माण करने का उनका ही संकल्प था जो प्रमुखस्वामी महाराज तथा सन्तों की अपार तपस्या के बाद साकार हो उठा है।

सन् 1971 में आपने शरीरलीला समाप्त की, उससे पहले बीएपीएस की विजय पताका वे विदेशों तक फहरा चुके थे। सुशिक्षित युवा सन्तों को प्रशिक्षित करके अक्षरपुरुषोत्तम-ज्ञान को लोकहृदय में समा चुके थे!

प्रमुखस्वामी महाराज

समग्र विश्व में 'भारत के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दूत' का सम्मान अनेक विद्वान् व्यक्तियों ने प्रमुखस्वामी महाराज को यूँ ही नहीं दिया है, सनातन हिन्दू धर्म के प्रकाश, मूल्यों, सिद्धान्तों तथा संस्कारों का वैश्विक स्तर पर विस्तार करनेवाले इस महापुरुष के चरणों में इतिहास सदा-सर्वदा साक्षी रहेगा!

गुजरात के छोटे-से गाँव चाणसद (जि. बड़ौदा) में मोतीलाल नामक किसान पिता के घर, सन् 1921 में दिवाली बाई की कोख से प्रकट हुए बालक शान्तिलाल को उस समय तो किसने पहचाना होगा?

मटरगश्ती या धींगामुश्ती में बीतते बचपन में और शांतिलाल के बचपन में यही तो फ़र्क था, कि वे पढ़ाई के बाद स्वामिनारायण मन्दिर, लक्ष्मीनारायण मन्दिर तथा गाँव के तालाब के किनारे पर खड़ी हनुमान मढ़ी की ओर निकल जाते। मन्दिर के बाबा हरिदास से जब हिमालय की चोटियों की, हरिद्वार के तीर्थत्व की बातें सुना करते तो स्वप्न में खो जाते। मुझे भी कभी वहीं पर तपस्या करने चले जाना है! हाँ, गाँव में पधारे हुए सन्तों की सेवा करना, छुट्टियों में सन्तों के साथ ही गाँव-गाँव घूमना तथा

कथा एवं सेवा का लाभ प्राप्त करना यही उनका नित्यक्रम बना हुआ था।

केवल 17 वर्ष की उनकी उम्र थी, कि गुरु शास्त्रीजी महाराज ने समीप के गाँव भाईली से एक छोटी-सी चिट्ठी भिजवाई, 'तुम्हें साधु होने की इच्छा है, और हमें भी तुम्हें दीक्षा देने की आतुरता है! यह चिट्ठी पढ़ते ही संसार छोड़कर मेरे से मिलने के लिए बोचासण में आ जाना!'

पत्र मिलते ही शान्तिलाल आनन्दविभोर हो उठे! गाँव के लड़कों के साथ वे उस समय क्रिकेट के साधन खरीदने के लिए बड़ौदा जा रहे थे। पलभर में निर्णय बदल दिया, और अध्यात्म के यात्री बनने के लिए संसार छोड़कर उसी पल निकल पड़े! माँ दिवालीबाई ने केवल इतना कहा, 'जाओ बेटे, हमारा आशीर्वाद है!' कुछ महीनों के बाद ही उन्हें गोंडल में भागवती दीक्षा दी गई। तब से उनका नाम शान्तिभगत से 'स्वामी नारायणस्वरूपदासजी' पड़ा!

मात्र 18 साल की उम्र से शुरु हुई उनके विचरण की अमृत-सरिता ने आज समुद्र-सा विराट्रूप ले लिया है! कुछेक साल संस्कृत अभ्यास एवं सत्संगसेवा में बीतते चले। इन वर्षों में गुरु शास्त्रीजी महाराज ने देख लिया कि सत्संग के भावी सूत्रधार की योग्यता अद्वितीय है! धीर-गम्भीर व्यक्तित्व, विनम्रता के चरमोत्कर्ष तक छूती ऊँचाइयाँ, देहातीत स्थिति में सहनशीलता की परिसीमा, पंचवर्तमान रूप भगवान स्वामिनारायण की आज्ञा में अनन्य निश्चलता, परमात्मा के स्वरूप में तल्लीन होती भक्तिभावना, तथा सत्संग विस्तार की विरल योजक क्षमता इस छोटी-सी काया से सहज उभर आती थी। केवल 28 वर्ष की उम्र में सन् 1950 में स्वामीश्री ने इस नवयुवक सन्त को समग्र संस्था के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया, इसके साथ ही 'प्रमुखस्वामी' सा प्यारा नाम गाँव-गाँव के सत्संग-समाज की जीभ पर रमने लगा। शास्त्रीजी महाराज तथा योगीजी महाराज की निश्रा में लगभग 30 साल से अधिक समय पर्दे के पीछे रहकर ही वे दिन-रात सत्संग-सेवाओं में अपना योगदान देते रहे।

सन् 1971 में योगीजी महाराज के अन्तिम शब्द थे, 'प्रमुखस्वामी मेरा सर्वस्व है!' और भगवान स्वामिनारायण की अध्यात्म परम्परा के पाँचवें उत्तराधिकारी प्रमुखस्वामी महाराज ने स्वामिनारायणीय सिद्धान्तों की वैश्विक

क्षमता को विश्व के पाँचों खण्डों में फैलाना प्रारम्भ किया!

सफलता में यश की अन्तिम बूँद भी वे परमात्मा भगवान स्वामिनारायण को अर्पण करते हैं, निष्फलता और अपमान के विष को वे भगवान शिवजी की भांति धैर्य से पचा भी लेते!

इस वात्सल्य मूर्ति सन्त के सान्निध्य में शंकाओं का समाधान होता है; द्विधाएँ दूर होती है, आघात अदृश्य होते हैं, मन शान्ति की अनुभूति में सराबोर हो जाता है!

इस घोर कलिकाल में अष्टांग ब्रह्मचर्य का पालन सात सौ से अधिक नवयुवा सुशिक्षित सन्तों से करवाकर उनको समाज के रचनात्मक अभियानों में जोड़े रखना ही उनकी अभूतपूर्व आत्मिक शक्ति का परिचापक है! विश्वभर में प्रसिद्ध 'अक्षरधाम संकुल,' गांधीनगर स्वामिनारायण हिन्दू मन्दिर, लंदन तथा राजधानी दिल्ली में यमुना के पावन तट पर विश्वविख्यात 'स्वामिनारायण अक्षरधाम' के निर्माता इस युगविभूति ने ऐसे 550 से अधिक संस्कार केन्द्रों से विश्व को अध्यात्म विद्यापीठों की अद्‌भुत भेंट दी है। स्वामीश्री कहते हैं, 'हमें कभी किसी के अहित का विचार ही नहीं आया।' हाँ, यही है उनकी जीवन भावना। 'दूसरों के सुख में हमारा सुख है, दूसरों के दुःख में ही हमारा दुःख है।' यह उनके अनुभवपूर्ण सूत्र-मात्र नहीं हैं। यही है उनका जीवन मन्त्र।

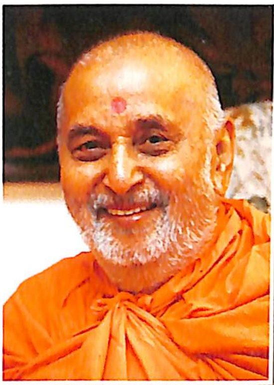
इसी कारण बालकों को उनसे माता का प्यार मिलता है, युवाओं को उनमें सच्चा मित्र तथा मार्गदर्शक प्राप्त होता है, बुजुर्गों को व्यवहार कुशल तथा परिपक्व सहारा मिल जाता है तो गरीबों को अपना तारणहार मिलता है। आदिवासियों को उनमें अपना उद्धारक दिखता है, तो विविध सम्प्रदाय के मुमुक्षुओं को संवादिता के सेतु का दर्शन होता है। 23 विदेश यात्राओं के दौरान उन्होंने विदेशों में भी एक अनूठा 'भारत' का निर्माण किया है!

BAPS की अनेकविध अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति के सूत्रधार स्वामीश्री ने कठोर पुरुषार्थ, निरन्तर प्रवास, लगातार सामाजिक सम्पर्क से तथा सदा-सर्वदा भगवान स्वामिनारायण को आगे रखते हुए जो चरित्रवान बाल-युवा पीढ़ी को तैयार किया है, आगामी वर्षों में वही समाज की अन्यतम विरासत बनकर उभर आयेंगे!

लोकहित के लिए उन्होंने 15,000 से अधिक गाँवों तथा शहरों में विचरण किया है, अढाई लाख से अधिक घरों को व्यक्तिगत रूप से तीर्थत्व प्रदान किया है, पाँच लाख से अधिक पत्रों से जन-जन के सुख-दुःख में वे सहभागी हुए हैं। सामाजिक, शैक्षणिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के हर दौर में उनका मार्गदर्शन समाज को प्रकाश पथ की ओर अग्रसर करता है। इस करुणामूर्ति सन्त की करुणा अकाल-ग्रस्त पशुओं से लेकर भूकंप या बाढ़-ग्रस्त इलाकों के हज़ारों तबाह हुए मानवों तक बहती रही है। यही कारण है, कि बौद्ध धर्माध्यक्ष दलाई लामा से लेकर आम आदमी तक लाखों लोगों ने उनको अपने हृदय से चाहा है। उनकी सिद्धियों का रहस्य है: परब्रह्म का साक्षात्कार! अनेक लोगों ने उनके सत्संग से आध्यात्मिक ऊँचाईयाँ पाई हैं और यह क्रम अभी जारी है।



श्री अक्षरपुरुषोत्तम महाराज



प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज

प्रेरणामूर्ति प्रमुखस्वामी महाराज

'दूसरों की भलाई में अपना भला है...!' - इस जीवनसूत्र के साथ लाखों लोगों को अपनी आत्मीय उष्मा की आगोश में लेकर अध्यात्म राह दिखानेवाले प्रमुखस्वामी महाराज एक विरल सन्तविभूति हैं।

(जन्म : दिनांक 7 दिसम्बर, 1921 चाणसद, जि. बड़ौदा, गुजरात)

भगवान स्वामिनारायण की गुणातीत सन्तपरम्परा के पाँचवें आध्यात्मिक अनुगामी हैं। इन वात्सल्य मूर्ति सन्त के सान्निध्य में शंकाओं का निराकरण होता है, द्विधाएँ दूर होती हैं, आघात अदृश्य होते हैं, मन शान्ति की अनुभूति में सराबोर हो जाता है।

उनके निर्व्याज वात्सल्य की अपार वर्षा में बालक या युवक, प्रौढ या वृद्ध, शिक्षित या निरक्षर, स्वदेशी या विदेशी सभी धन्यता की अनुभूति पाते हैं।

वनवासी या अफ्रीका के पिछड़े हुए समुदायों से लेकर अमरिकावासियों तक आपने सबको समता की दृष्टि से संबल दिया है।

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था (बी.ए.पी.एस.) के सूत्रधार के रूप में आपने कठिन पुरुषार्थ से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक विराट चारित्र्यवान समाज तैयार किया है।

परोपकारी एवं लोकहित के रक्षक आप करुणामूर्ति सन्त हैं, अत एवं आपने 15,500 से अधिक गाँवों-शहरों को अपनी पुनीत पदरेणु से पावन किए हैं। ढ़ाई लाख से अधिक घर-निवासों को व्यक्तिगत रूप से तीर्थत्व दिया है।

आश्रितों की अनेकविध समस्याओं का समाधान पत्रों से देते हुए आपने 7 लाख से अधिक पत्रों का विक्रमसर्जक लेखन किया है। विश्वभर में 650 से अधिक मन्दिरों का सर्जन और विराट सांस्कृतिक संकुलों का सर्जन आपके दिव्य जीवन की गवाही देनेवाले मूर्तिमंत सीमाचिह्न हैं। गुजरात और महाराष्ट्र के भूकंपपीडितों से लेकर अकाल में तड़पते सौराष्ट्र के पशुधन पर तथा उड़ीसा की बाढ़ में बर्बाद हुए लोगों पर आपकी करुणा शतशः धारा से बरसती रही है।

बस, इसी कारण बौद्ध धर्माध्यक्ष श्री दलाई लामा से लेकर आम आदमी तक लाखों लोगों ने आपको हृदय से चाहा है। आपकी सिद्धियों का रहस्य है : परब्रह्म का साक्षात्कार। अनेक लोगों ने आपके सत्संग से आध्यात्मिक ऊँचाईयाँ पाई हैं और यह क्रम निर्बाधरूप से चल रहा है।



'श्री पुरुषोत्तम क्षर अक्षर पर, अखिल भुवन आधार हो !
निज इच्छा तें वृषघर प्रकटे, निज जन सुख दातार हो !'

भगवान स्वामिनारायण कहते हैं :

'मेरा यह अवतार है, सो तो जीवों कुं ब्रह्मरूप करके आत्यंतिक
मुक्ति देने के वास्ते अक्षरातीत पुरुषोत्तम जो हम वह मनुष्य जैसा बन्या हूँ...
आज तो मैं अविद्यारूप जो माया है, तिसके नाश के वास्ते प्रकट हुआ हूँ...
मेरा प्रयोजन यही है, ज्यों अविद्या कुं नाश करना, जीवकुं ब्रह्मरूप करना...
इस प्रयोजन वास्ते में प्रकट हुआ हूँ...'

सन् १७८१ से सन् १८३० तक केवल उनचास वर्ष की
अल्प आयु में सर्वावतारी भगवान स्वामिनारायण ने
न जाने कैसा अनुपम चक्र घुमा दिया, उनके दिव्य प्रभाव से,
ब्रह्मचर्यनिष्ठ पवित्र सन्तों के विचरण से,
उनकी परहितकारी करुणागंगा से गाँव गाँव, घर घर भक्तबीज
अंकुरित होने लगे थे, बिना प्रशासन के
सहयोग एवं सुविधा के भगवान स्वामिनारायण ने
भागवत धर्म का प्रस्थापन किया.
धर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्ययुक्त भक्ति से संसार में अध्यात्म की
परम्परा का प्रवर्तन किया. उनके आगमन से ही मानो नवयुग
के निर्माण का शंखनाद हो चुका था,
समाज परिवर्तन की नई क्षितिजें खोलकर भगवान स्वामिनारायण ने
अज्ञानजन्य अन्धकार में जो नैतिकता का सूर्योदय किया था,
उनके जीवनलीला समेटने के बाद आज भी निरन्तर उसीकी
रोशनी हमारे भीतर को प्रकाशित करती जा रही है.
आज उनके दिव्य और कल्याणकारी आलोक ने न केवल गुजरात की
सीमाओं को आवृत्त किए रखा है,
अपितु उनके सिद्धान्त एवं कार्य कलाप की किरणें
विश्ववंदनीय प्रमुखस्वामी महाराज की निश्रा में विश्व के
इक्यावन देशों में अपना प्रभाव फैला रही है...
प्रस्तुत है उनके कल्याणकारी जीवन से कुछ आचमन...

B H 3 3 3
ISBN: 81-7526-255-9